दर्शन और जीवन

सम्पूर्णानन्द

दर्शन और जीवन

लेखक

सम्पूर्णानन्द

प्रकाशक

परिपूर्णानन्द वर्म्मा,

कानपुर

१९४१

Printed by K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd., Allahabad.

ॐ

सर्वभूतेषु या देवी,
जिज्ञासेत्यभिधीयते ।
विद्यते ज्ञानरूपा च,
धियः सा नः प्रचोदयात् ॥

भूमिका

दर्शन-सम्बन्धी पुस्तक लिखनेवाले को क्षमा-याचना करनी पडती है। पाश्चात्य देशों मे प्रतिवर्ष सैकडों छोटी-बड़ी दार्शनिक पुस्तके निकलती है और ऐसे लोग अब भी है जो दार्शनिक प्रश्नों पर स्वतत्र विचार करते है। परन्तु भारत मे, जिसका दार्शनिक वाङमय सभ्य जगत् की अमूल्य विभूति है, यह धारा सूख-सी गई है। ऐसा समझा जाने लगा है कि नये विचार की जगह रही ही नही—जो कुछ कहना था पुराने आचार्य कह गये, अब हमारे लिए टीका लिखना-मात्र रह गया है। जो लोग कुछ नये ढग से सोचते भी है वह अँगरेजी भाषा मे लिखते है। आजकल का शिक्षित भारतीय जैसे दर्शन के नाम से लज्जित होता है। विश्वविद्यालयों मे भारतीय और पाश्चात्य दर्शन एक दूसरे से पृथक् पढ़ाये जाते है। बस यह समझ लिया गया है कि जिन लोगो की बुद्धि इतनी प्रखर नही है कि वह गणित या विज्ञान या अर्थशास्त्र जैसे गूढ़ विषयों को ले सके वह दर्शन लेकर ग्रैजुएट की उपाधि प्राप्त कर सकते है। दर्शन का विषय अव्यावहारिक जान पड़ता है। 'ईश्वर है या नही है, आत्मा नित्य है या अनित्य, इन बातों मे पड़कर क्या होगा? सुना तो यह भी जाता है कि दार्शनिको का वहुत-सा समय ऐसी बातों के सोचने मे जाता है कि कटोरे के सहारे घी है या घी के सहारे कटोरा। फिर इस रेल, तार, रेडियो, वायुयान के युग मे इन बातों का क्या उपयोग है? जगत् को माया माया कहते कहते ही तो भारतनिवासी दूसरों के गुलाम हो गये।'

जहाँ ऐसे विचार फैल रहे हो, वहाँ हिन्दी-भाषा मे दर्शन-सम्बन्धी पुस्तक लिखना दु:साहस-सा प्रतीत होता है। इस समय तो समाजशास्त्र, रसायन, राजनीति, अर्थशास्त्र, विद्युच्छास्त्र, यत्रनिर्माण पर पुस्तके चाहिएँ ताकि हम दूसरों से पिछड़े न रहें।

जहाँ तक इन विषयों पर पुस्तकों के लिखे जाने की आवश्यकता की बात है, वहाँ तक तो कोई विवाद नहीं हो सकता। हमारे वाङमय-भाण्डार में इन विषयों पर और इसी प्रकार के दूसरे विषयों पर बहुत-सी पुस्तकें चाहिए। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि दर्शन के अध्ययन की आवश्यकता नहीं है। दर्शन अव्यावहारिक विषय नहीं है। इस पुस्तक के लिखने का यही उद्देश्य है कि दर्शन की व्यावहारिकता और श्रेष्ठतम उपयोगिता प्रदर्शित की जाय। दर्शन परीक्षा के पाठ्य विषयों में से ही एक नहीं है, वह सभी विषयों का संमिलन-क्षेत्र है। जिस समाज का जैसा दार्शनिक विश्वास होगा उसकी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था, उसकी शिक्षाप्रणाली, उसकी उपासना-पद्धति, उसके व्यक्तियों का आचार-व्यवहार भी वैसा ही होगा। इसके विपरीत, यदि कोई समाज दर्शन को केवल परीक्षार्थियो और श्मशान की ओर एक पाँव बढ़ाये हुए बुड्ढों का पाठ्यविषय बना देगा और वैयक्तिक तथा सामूहिक जीवन को रागद्वेष और हित-संघर्ष के आधार पर चलने देगा तो उसे एक दिन इसका दण्ड भोगना पड़ेगा। भारत को दर्शन ने नहीं गिराया—भारत के गिरने का कारण यह हुआ कि उसका दर्शन थोड़े-से पण्डितों और साधु-संन्यासियों के पढ़ने-पढ़ाने का विषय रह गया—-उसका देश के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रहा। इसलिए देश निष्प्राण शरीर की भाँति विदेशी रीति-नीति और संस्कृति के सामने गिर गया और दर्शन भी हास्यास्पद बन गया। जो दार्शनिक विचार स्फूर्ति नहीं दे सकता, जो अकर्मण्यता को सन्तोष का नाम देकर अपनी इति-कर्तव्यता मानता है वह शब्दजाल-मात्र है; जो पैसों या प्राणों के लोभ से धर्मद्वेषियों के सामने सिर झुकाये खड़ा रहता है उसके मुँह में 'अभयं ब्रह्म' शोभा नहीं देता। जीवन को सुदृढ़ दार्शनिक आधारों पर न खड़ा करने का भीषण परिणाम आज पाश्चात्य जगत् में देख पड़ रहा है।

हम भारत में नवयुग लाने जा रहे हैं, इसलिए यह उचित है कि

यह निश्चित कर लें कि उसका आधार प्रत्येक व्यक्ति का अपना स्वार्थ ही होगा या कुछ और।

पुस्तक के आलोच्य विषय के सम्बन्ध में दो शब्द कहना आवश्यक है। दर्शन का विषय सम्पूर्ण जगत्, पूर्ण सत्य है, इसी लिए तो प्राचीन आचार्य्यों ने इसे शास्त्रों का शास्त्र कहा है। इसलिए ज्ञान का कोई भी क्षेत्र इसकी परिधि के बाहर नहीं है। विज्ञान के विभिन्न विभागों के द्वारा जो आंशिक सत्य मिलते हैं उन सबका समन्वय जो दर्शन नहीं कर सकता उसको दर्शन कहलाने का अधिकार नहीं है। दार्शनिक विचार के लिए विज्ञान की खोज का ज्ञान नितान्त आवश्यक है। इसके अभाव में दार्शनिक चर्चा केवल कोरी बकबक है और जिन प्रश्नों पर विचार होता है वह व्यवहार और उपयोग से दूर कपोलकल्पना-मात्र होते हैं।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य विवेक और सौन्दर्यानुभूति का हमारे जीवन में बड़ा ऊँचा स्थान है परन्तु हमारे प्राचीन आचार्य्यों ने इस सम्बन्ध में कम विचार किया है। इनकी ओर ध्यान दिये बिना दार्शनिक विचार अधूरा ही रह जाता है।

मैंने इस पुस्तक में कुछ प्रश्न ही उपस्थित किये हैं, शङ्कायें ही खड़ी की हैं, उत्तर नहीं दिये, समाधान नहीं किया। यदि इसको पढ़कर पाठक को दर्शन की उपयोगिता प्रतीत हो तो अपने को कृतार्थ समझूँगा। जिसमें जिज्ञासा उत्पन्न होगी उसका स्वाध्यायपथ अन्धकारमय नहीं रह सकता। पूर्ण दार्शनिक ज्ञान केवल स्वाध्याय से ही हो सकता है या नहीं, यह भी विचारणीय है। भारतीय दर्शन के आचार्य्यों का तो कहना है कि तत्त्व साक्षात्कार के तीन सोपान हैं—श्रवण, मनन और निदिध्यासन, पर इस बात पर यहाँ विस्तार से विचार करना अनावश्यक है।

सेण्ट्रलप्रिज़न, फ़तहगढ़
४ चैत्र (सौर), १९९७

सम्पूर्णानन्द

विषय-सूची

तृतीय खण्ड---सुन्दरम्

विषय पृष्ठ

ॐ असतो मा सद्गमय

प्रथम खण्ड

सत्यम

१

सत्य और प्रतीति

दर्शनशास्त्र को अध्यात्मविद्या और विचारशास्त्र भी कहते हैं, पर इन नामों से यह बात कुछ ठीक समझ में नहीं आती कि उसका विषय क्या है। साधारणत: तो लोगों में यह धारणा है कि दार्शनिक लोग ब्रह्म, जीव, आत्मा, ईश्वर, मोक्ष जैसी बातों के सम्बन्ध में सोचा करते हैं। तब इन बातों के बारे में दार्शनिक हमको क्या बतलायेगा? जो कुछ जानना है वह वेद, पुराण तथा सन्त-महात्माओं की पोथियों में लिखा पड़ा है। तुलसीदास जी ने कहा है—

गिरा अर्थ जल बीचि सम, कहिय तो भिन्न न भिन्न।

फिर इन्हीं बातों की चर्चा दर्शन की पुस्तकों में पढ़ने से क्या नई बात मिल जायगी? हाँ, पत्थर की भाँति कठिन शब्दों से सिर टकराना होगा, क्योंकि दार्शनिक लोग सीधी भाषा में बोल ही नहीं सकते। उनकी बात समझने के लिए एक नई भाषा सीखनी पड़ती है। अवच्छेदकावच्छिन्न, अध्यास, समवेतसमवाय, प्रतीत्यसमुत्पाद, अविद्यमानत्वाभाव जैसे शब्दों का सामान्य बोलचाल में तो कोई काम पड़ता नहीं। घट-पट, घटाकाश, मठाकाश, जहद्जहल्लक्षणा का नाम लिये बिना भी हमारे सारे व्यवहार निर्बाध रूप से सम्पन्न हो जाते हैं। फिर इन बातों के फेर में क्यों पड़ा जाय? दर्शन का अध्ययन

करने पर क्या ईश्वर देख पड़ जायगा ? ऐसा तो दावा कोई पण्डित करता नहीं, यद्यपि हज़ारों ही व्यक्ति दर्शन पढ़ते-पढ़ाते हैं।

फिर एक दोष और है। दार्शनिक पुस्तकें व्यास, कणाद, गौतम, शङ्कराचार्य्य आदि ने भी लिखी हैं; अश्वघोष आदि बौद्ध विद्वानों ने भी लिखी हैं; अफ़लातून, कैण्ट, हीगेल, मार्क्स, बर्ग्सन ने भी लिखी हैं। यदि सबका प्रतिपाद्य विषय एक है तो सबका निष्कर्ष भी एक ही होना चाहिए। ऐसा नहीं हो सकता कि गणित की एक पुस्तक में दो और दो चार और दूसरी में दो और दो पाँच लिखा हो। यदि कोई पुस्तक यह बताये कि त्रिभुज के तीनों कोणों का योग १८०° से कम होता है तो उसके इस कथन की प्रत्यक्ष नाप-द्वारा समीक्षा हो सकती है। परन्तु प्रत्येक दार्शनिक एक निराला ही राग अलापता है। ऐसी दशा में दर्शन की पुस्तकों को पढ़ना व्यर्थ है। कोई लाभ होना तो दूर रहा, यह जगत् माया है—ऐसा सुनते-सुनते प्रवृत्ति रुक जाती है और वैयक्तिक तथा सामूहिक उन्नति का मार्ग बन्द हो जाता है।

ये आक्षेप निराधार नहीं हैं पर मैं यह दिखलाना चाहता हूँ कि इनके रहते हुए भी दर्शन उपयोगी शास्त्र है और उसके अध्ययन से रस ही नहीं मिलता, ज्ञान की भी वृद्धि होती है। ऐसे बहुत-से प्रश्न हैं जिनका उत्तर अब तक किसी ने नहीं दिया है, या जो उत्तर दिये गये हैं वह सन्तोषकर नहीं प्रतीत होते। परन्तु केवल इसी कारण लोग उनकी ओर से विरत नहीं हो जाते। कुछ लोग ऐसे प्रश्नों का अध्ययन करते हैं, इसी लिए विज्ञान में उन्नति होती है, आविष्कार होते हैं। जो समस्या जितनी ही कठिन होती है, वह बुद्धि का उतना ही विकास करती है। यदि कुछ लोग असाधारण कामों के पीछे न

पड़ें तो सामान्य लोग अपने साधारण कामों को भी सुचारु रूप से न कर सकें। ऐसे प्रसङ्गों में उपयोगिता को पैसों की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। जो ज्योतिषी करोड़ों कोस की दूरी पर स्थित नीहारिकाओं से आनेवाली प्रकाशरश्मियों का विश्लेषण करता है, वह अपने प्रयोगों से रुपया कमाने की आशा नहीं रखता। जो लोग केवल अर्थागम को उपयोगिता का मानदण्ड समझते हैं और उन्हीं कामों को करणीय समझते हैं जिनसे हमारे प्रतिदिन के व्यवहार में, खाने-पीने और मनोरञ्जन में, सहायता मिलती है उनकी दृष्टि में वह ज्योतिषी अपने समय और बुद्धि-बल का दुरुपयोग करता है। परन्तु उसको इस काम में रस मिलता है और उसको नीहारिका के विषय में जो ज्ञान प्राप्त होता है वह, अन्ततोगत्वा, हमारे ज्ञानभण्डार का अविच्छेद्य अङ्ग बनकर हमको जगत् की पहेली को समझने में सहायता देता है। जो नियम। आकाश के समन्तव्यापी पिण्डों को परिचालित कर रहे हैं उन्हीं के अनुसार हमारे पाँव की ठोकर से शतधा फूट जानेवाली मिट्टी को डली की गति-विधि होती है। एक को समझने से हम दूसरे को समझ सकते हैं और अपने ज्ञान के अनुसार ही अपने जीवन का निर्वाह करने का प्रयत्न करते हैं। यह परिवर्तन एक दिन में नहीं होता। परन्तु ज्ञान का प्रभाव जीवन पर पड़े बिना नहीं रहता। इस प्रकार के अध्ययन की यही उपयोगिता है। जब आज से तीन सौ वर्ष पहले गैल्वनी ने मरे मेढक के शरीर में से बिजली की एक क्षीण-सी लहर दौड़ाई थी, उस समय उनके प्रयोग में स्यात् ही किसी को तात्कालिक उपयोगिया प्रतीत हुई होगी। पर आज विद्युच्छक्ति सभ्य जीवन का प्रतीक बन गई है। यह बात भौतिक जीवन में ही नहीं

घटती। कार्ल मार्क्स की विचारधारा आज एक विशाल भूखण्ड के राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन का आधार बनी हुई है। बुद्ध, ईसा और मुहम्मद के विचारों ने करोड़ों मनुष्यों के वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को प्रभावित किया है। इसलिए दर्शन की उपयोगिता को सङ्कीर्ण कसौटी पर नहीं कसा जा सकता। उसका अध्ययन इस डँर के मारे भी नहीं छोड़ा जा सकता कि कुछ दार्शनिकों ने इस जगत् को मिथ्या बतलाया है। यदि यह सचमुच मिथ्या ही हो तो हमारे दर्शन के अध्ययन न करने से इसमें सत्यता नहीं आ सकती। और फिर इसको सत्य मानकर हम जितने भी आचरण करेंगे वे देखने में कितने भी भले लगें पर उनकी वास्तविक उपयोगिता मरीचिका-जल को सत्य मानकर उसकी ओर दौड़नेवाले मृग के प्रयास की उपयोगिता से बढ़कर न होगी। मृग अपने को आगे बढ़ता देखकर यह भले ही समझ ले कि मैं उन्नति कर रहा हूँ, पर यह उन्नति उसके किस काम आयेगी? पीछे पछताना ही हाथ रहेगा। और यदि वे दार्शनिक ठीक नहीं कहते, यदि जगत् मिथ्या नहीं है, तो फिर उसकी सत्यता का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना अच्छा है।

दर्शन का विषय

इससे यह निष्कर्ष निकला कि दर्शन के नाम से घबराकर या सुनी-सुनाई बातों से डरकर या प्रत्यक्ष तात्कालिक भौतिक लाभ न देखकर या दार्शनिक पुस्तकों की क्लिष्ट भाषा से घबराकर दर्शन का अध्ययन नहीं छोड़ा जा सकता। हमको उसके विषय पर ध्यान देना चाहिए। पर यह विषय है क्या? संक्षेप में यह कह सकते हैं कि

दर्शन का विषय सत्य है। इसको थोड़ा और बढ़ाकर यों कह सकते हैं कि दर्शन का विषय निर्विकार सत्य है। यह शास्त्रीय परिभाषा नहीं है, परन्तु काम चलाने के लिए पर्याप्त है।

इसमें दो शब्द आये हैं, निर्विकार और सत्य। इनका अर्थ समझ लेना चाहिए। पहले विशेष्यपद सत्य को लीजिए। सरल रूप से यह कहा जा सकता है कि जिसकी सत्ता है, जो है, वह सत्य है। परन्तु सत्ता भी दो प्रकार की हो सकती है। मान लीजिए कि मैं एक कमरे में कुछ और लोगों के साथ हूँ। यदि मुझे ज्वर का प्रकोप हो और उस दशा में मुझे वहाँ एक प्रेत देख पड़े तो इस समय मुझको जो प्रेत का अनुभव हो रहा है वह ज्वर के उतर जाने पर नष्ट हो जायगा। कभी-कभी सभी लोगों को आकाश में पुष्पमाला देख पड़ जाती है। यहाँ प्रेत और माला की सत्ता स्वतंत्र नहीं है बरन द्रष्टा के ऊपर निर्भर है। इनका अस्तित्व अनुभूतिकाल-मात्र में है और जो व्यक्ति अनुभव कर रहा है उसके लिए ही है। इसी लिए कहते हैं कि ऐसी वस्तुएँ देखनेवाले के मनोराज्य में रहती हैं। ऐसी सत्ता को द्रष्टृसापेक्ष्य या ज्ञातृगत सत्ता कहते हैं। जिन वस्तुओं की ऐसी सत्ता होती है वे दर्शनशास्त्र का विषय नहीं होतीं। दर्शन के लिए वही वस्तु सत्य है जिसकी सत्ता दृश्यसापेक्ष्य या ज्ञेयगत है। ज्ञेयगत सत्ता का तात्पर्य यह है कि चाहे कोई अनुभव करनेवाला हो, चाहे न हो, वह वस्तु रहेगी। ऐसी सत्ता अपने से भिन्न किसी पराये देखनेवाले पर निर्भर नहीं करती। वेदान्त के आचार्यों की परिभाषा में दूसरे प्रकार की सत्ता को व्यावहारिक और पहली को प्रातिभासिक कहते हैं।

हमने सत्य के साथ निर्विकार विशेषण जोड़ दिया है। यदि ऐसा न किया जाता तो सम्भव है कि दर्शन का क्षेत्र बहुत बढ़ जाता। मान लीजिए कि यह सिद्ध हो जाय कि लोहा सत्य पदार्थ है। तब फिर लोहे की बनी छोटी-बड़ी सभी वस्तुएँ सत्य हो जायँगी। पर दर्शन-शास्त्र इन सबका विचार नहीं कर सकता। यह सब लोहे के विकार हैं, अतः दर्शन शुद्ध निर्विकार लोहे को अपनी दृष्टि में रक्खेगा। कुछ लोग निर्विकार की जगह 'अन्तिम' या 'मूल' शब्द रखना पसन्द करते हैं। यदि यह सिद्ध हो जाय कि लोहे का कोई शुद्ध, इन्द्रियों से अगोचर, सूक्ष्म रूप है तो उस सूक्ष्म रूप की सत्ता पारमार्थिक सत्ता कहलायेगी, अन्यथा पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप एक ही होगा।

तो दर्शन का प्रतिपाद्य विषय हुआ अन्तिम या मूल या निर्विकार या पारमार्थिक सत्य। ऐसा कोई पदार्थ है भी या नहीं, यदि है तो वह एक है या अनेक—यह सब विचारणीय है। दार्शनिक इन प्रश्नों पर विचार करता है। यह भी विचारणीय है कि जो सत्य है उसके अतिरिक्त किसी और वस्तु की, व्यावहारिक या प्रातिभासिक स्वरूपों की प्रतीति कैसे होती है, अर्थात् सत्य से असत्य कैसे निकलता है। यदि सत्य है ही नहीं तो यह और भी विचारणीय हो जाता है कि मूल में कुछ भी न होते हुए यह जगत् कैसे प्रतीत हो रहा है और किसको प्रतीत हो रहा है।

इस वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि दर्शन का क्षेत्र विशाल और उसका विषय रोचक है। यों तो विज्ञान के सभी अंग, सभी पृथक् शास्त्र, जगत् के एक-एक अंश का अध्ययन करते हैं, परन्तु दर्शन समूचे जगत् को—उस जगत् को जो हमारे भीतर और बाहर

विद्यमान है—लेता है और पूर्ण सत्य का अन्वेषण करता है। यदि जीव और ईश्वर सत्य हैं तो वे भी पूर्ण सत्य के अन्तर्गत हैं और दर्शनशास्त्र के विषय हैं। परन्तु दर्शन अकेले उनसे ही सम्बन्ध नहीं रखता।

सत्य का अध्ययन हँसी-खेल नहीं है। किसी वस्तु के बाहर रहकर तो उसका अनुशीलन करना सुकर होता है, परन्तु अंश के लिए अंशी को, टुकड़े के लिए कुल को, समझना कठिन है। जिस जगत् में सत्य को ढूँढ़ना है उसमें हम भी हैं। जगत् सत्य है या असत्य है या अंशतः सत्य है, अंशतः असत्य है, हम भी उसके टुकड़े हैं, हमारी अपनी सत्ता कैसी है, इसका निर्णय करना सुगम नहीं है। यह सब इसलिए लिखता हूँ कि कोई इस भ्रम में न रहे कि दर्शन का अध्ययन मनोरञ्जन की सामग्री है। जितना विस्तृत जगत् है, जितना विशाल अन्य सब शास्त्रों का संयुक्त क्षेत्र है, उतना ही विशाल और विस्तृत दर्शन का क्षेत्र है। उतना ही यह विषय चित्ताकर्षक और उपयोगी है। अंश के ज्ञान से अंशी का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता, परन्तु अंशी के ज्ञान से अंश समझ में आ जाता है। अकेले हाथ या पाँव या किसी अन्य अवयव के ज्ञान से, सब अवयवों के संयुक्त ज्ञान से भी, हम मनुष्य को नहीं समझ सकते। परन्तु जो समूचे मनुष्य को समझता है वह अवयवों की गतिविधि को, उनके परस्पर संबंध को, भली भाँति समझ सकता है। इसी प्रकार सम्पूर्ण सत्य का चित्र बुद्धि में खिंच जाने पर उसके अवयवभूत उन सत्यों को भी ठीक-ठीक समझा जा सकता है जिनका विचार विभिन्न विज्ञानशास्त्रों में होता है।

परन्तु यहाँ पर एक शंका उत्पन्न होती है। यह सत्य की खोज का प्रश्न उठा कैसे? जगत् का ज्ञान हमको अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा होता है। जो कमी रह जाती है वह हमारी तर्कणाशक्ति, हमारी बुद्धि, पूरा कर देती है। इस प्रकार जगत् का जो स्वरूप बनता है उसके ठीक होने में सन्देह करने का क्या कारण है? ऐसा क्यों नहीं माना जाता कि जो कुछ जैसा है वैसा प्रतीत होता है, अर्थात्, हमको सत्य का साक्षात्कार हो रहा है?

थोड़ा-सा विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि हमको अपने प्रत्यक्ष अनुभवों पर सन्देह करने का पर्य्याप्त स्थल है, चाहे और गम्भीर अन्वेषण के बाद यह सन्देह दूर भले ही हो जाय। हमको पानी में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब देख पड़ता है। यह प्रतिबिम्ब बराबर हिलता रहता है। इस प्रतिबिम्ब में दो मुख्य गुण हैं, प्रकाश और कम्पन। जिसको पानी के गुण का ज्ञान न हो और पानी से पृथक् चन्द्र का दर्शन न हुआ हो उसके लिए तो ऐसा मानना उचित होगा कि चन्द्रमा प्रकाशमान और कम्पनशील है। पर जिसको जाँच करने का अवसर मिला है वह जानता है कि प्रतिबिम्ब में कम्पन गुण जल से आया है, अतः इसको घटाने के उपरान्त जो प्रकाश-गुण बच गया वह चन्द्र का वास्तविक धर्म है। इसी प्रकार, चित्रकार अपनी तूलिका से काग़ज़ पर रंग भरता है। जो चित्र हमारे सामने आता है उसमें काग़ज़ और रंग दोनों मिले हुए हैं। चित्रकार ने बाहर से अपनी ओर से क्या दिया, यह समझने के लिए चित्र में से काग़ज़ को निकाल देना होगा। अब हमको जिन वस्तुओं का अनुभव होता है वे हमारे अन्तःकरण में, साधारण बोलचाल में, हमारे मन में

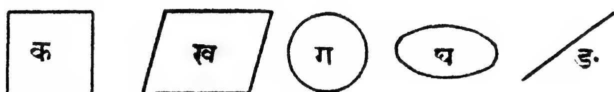
चित्रित रहती हैं। अन्तःकरण में उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है। दार्शनिक लोग इस बात को यों कहते हैं कि जब घड़े का अनुभव होता है, उस समय बुद्धि घटाकार हो जाती है। यह तो प्रत्यक्ष है कि केवल वस्तु और इन्द्रियों के होने से अनुभव नहीं होता।

आँख खुली हो, कान खुले हों, पर यदि चित्त कहीं और होता है तो सामने की वस्तु न देख पड़ती है, न सुन पड़ती है। चित्त ही वह पट है जिस पर बाहर जो कुछ भी है उसका प्रभाव पड़ता है और हमको अनुभव होता है। तो फिर जिस प्रकार चन्द्र का वास्तविक गुण प्रतिबिम्ब के गुणों में से जल के गुण को घटाने पर ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार जो अनुभूति हमको होती है उसमें से अन्तःकरण के गुण या धर्म्म को घटाने पर ही तो उस बाहरी वस्तु का सच्चा स्वरूप जाना जा सकेगा। सम्भव है, अन्तःकरण निर्मल निश्चल दर्पण की भाँति अपनी ओर से कुछ भी न जोड़कर वस्तुओं को ज्यों का त्यों प्रतिबिम्बित कर देता हो। परन्तु जब तक यह बात प्रमाणित न हो जाय तब तक तो यह सन्देह करना अनुचित न होगा कि हमको वस्तुओं के जो स्वरूप अनुभूत होते हैं वे यथार्थ अर्थात् सत्य नहीं हैं, बरन उनमें कुछ मिलावट हमारे चित्त की ओर से भी हुई है, अतः वे अंशतः असत्य हैं।

यह तो सन्देह की बात हुई। अधिक गम्भीर विचार करने से इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान पर अविश्वास और दृढ़ हो जाता है। यहाँ पर हम कुछ ऐसी सरल बातें रखते हैं जिनसे इस कथन की पुष्टि होगी।

इन्द्रियों से यथार्थ ज्ञान नहीं मिलता

वस्तुओं का एक धर्म्म आकार है। कोई वस्तु तिकोनी, कोई गोल, कोई समचतुष्कोण प्रतीत होती है। हम ऐसा मानते हैं कि जो वस्तु जैसी प्रतीत होती है उसका वैसा ही आकार है। अब आप एक समचतुष्कोण को लीजिए। उसके ठीक ऊपर की ओर से देखिए तो वह समचतुष्कोण देख पड़ेगी, पर एक कोने की ओर थोड़ी दूर पर खड़े होइए, आकार बदल जायगा। ये दोनों आकार नीचे के चित्र (क) और (ख) में दिये हुए हैं—



इसी प्रकार जो वस्तु ठीक ऊपर से गोल दीखती है वह एक कोने से अण्डाकार हो जाती है। ये दोनों आकृतियाँ भी चित्र में (ग) और (घ) में दिखला दी गई हैं। बहुत दूर से देखने पर दोनों ही (ङ) के समान सरल रेखा हो जायँगी। अब पहली वस्तु का वास्तविक आकार (क) माना जाय या (ख) या (ङ), दूसरी का (ग) माना जाय या (घ) या (ङ)? व्यवहार में तो हम (क) और (ग) को ही ठीक मान लेते हैं। पूरा-पूरा कहते नहीं, पर जब एक दूसरे को किसी वस्तु का आकार बताते हैं तो हमारा तात्पर्य्य उसी आकार से होता है जो ठीक ऊपर से देख पड़ता है। परन्तु ठीक ऊपरवाला आकार सच्चा है और कोनेवाला झूठा, यह बात कैसे निश्चित हुई? अतः ऐसा जान पड़ता है कि या तो वस्तुओं

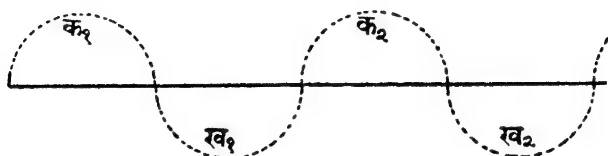
में आकार नाम का अपना कोई धर्म्म नहीं है, उनकी अपनी कोई आकृति, कोई सूरत होती ही नहीं, हमारा अन्तःकरण उनके सिर भाँति-भाँति की आकृतियाँ मढ़ दिया करता है, जो सभी असत्य हैं, या यदि आकृतियाँ सचमुच होती हैं तो हमको उनका ठीक-ठीक परिज्ञान नहीं होता।

रंग भी वस्तुओं का एक मुख्य धर्म्म माना जाता है। अब आप किसी रंगीन वस्तु को लीजिए। उसको बिजली के प्रकाश में, गैस या अन्य पीले प्रकाश में, नीले प्रकाश में, हरे रंग से लिपी दीवारोंवाले कमरे में, लाल प्रकाश में तथा अन्य प्रकार की रंगीन पीठिकाओं के सामने देखिए। बराबर रंग बदलता जायगा। व्यवहार में तो वस्तु के रंग का निर्देश करते समय हम उस रंग का नाम लेते हैं जो श्वेत प्रकाश में देख पड़ता है। पर यही रंग क्यों वास्तविक माना जाय? फिर, वस्तु के सच्चे रंग का, यदि रंग कोई सत्य गुण है भी तो, कैसे ज्ञान हो?

स्पर्श से भी इसी प्रकार यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त होता। एक बर्तन में आग पर रक्खा हुआ पानी, दूसरे में बर्फ़ का पानी और तीसरे में साधारण नदी या कुएँ का पानी लीजिए। एक हाथ आग पर से उतरे पानी में और दूसरा बर्फ़ के पानी में डालिए। थोड़ी देर के बाद दोनों को एक साथ तीसरे बर्तनवाले पानी में डालिए। वही पानी बर्फ़ से आये हुए हाथ को गरम और गरम पानी से आये हुए हाथ को ठण्डा लगेगा। अब उस पानी को क्या कहें, गरम या ठण्डा?

इन्द्रियों से वस्तुओं का अव्यवहितज्ञान* नहीं होता

आप सैकड़ों रंगीन वस्तुओं को नित्यप्रति देखते हैं। कोई लाल, कोई पीली, कोई नीली देख पड़ती है। वैज्ञानिक कहता है कि प्रकाश की किरणें लहरों के रूप में चलती हैं। ये लहरें वैसी ही होती हैं जैसी कि ढेला फेंकने से पानी में उत्पन्न हो जाती हैं। इनका आकार इस चित्र जैसा होता है—



प्रकाश चाहे किसी रंग का हो उसकी गति एक-सी, एक सेकण्ड में लगभग ९३,००० कोस, होती है, परन्तु भिन्न भिन्न लहरों में भेद यह होता है कि किसी का तरंगमान कम होता है, किसी का अधिक। $क_१$ से $क_२$ या $ख_१$ से $ख_२$ तक की दूरी को तरंगमान कहते हैं। ये तरंगें कहाँ उठती हैं, कैसे चलती हैं, इत्यादि तो भौतिक विज्ञान का विषय है, उसे हम छोड़ते हैं। कहा जाता है कि जब किसी वस्तु में

* दो वस्तुओं के बीच में जो चीज़ पर्दे की भाँति आ जाती है उसे व्यवधान कहते हैं। व्यवधान की आड़ में जो ज्ञान होता है वह व्यवहित ज्ञान है। बादल के पीछे छिपे चन्द्र का ज्ञान व्यवहित है। इसी प्रकार धुवें को देखकर अनुमान के द्वारा आग की सत्ता का जो ज्ञान है वह व्यवहित ज्ञान है।

बड़े वेग का कम्पन होता है तो उसमें से प्रकाश की लहरें निकलती हैं। किस प्रकार की, अर्थात् कितने तरंगमान की लहर निकलेगी, यह कम्पन की तीव्रता पर निर्भर करता है। प्रकाश का सबसे कम तरंग-मान ·००००१५८ इंच है। सबसे अधिक ·००००३१५ इंच है। अस्तु, ये लहरें हमारी आँखों में प्रवेश करती हैं। आँखों के पीछे एक पर्दा है। उसी पर वस्तु चित्रित होती है। उसके पीछे बहुत ही सूक्ष्म नाड़ि-तन्तुओं का गुच्छा है। ये तन्तु मस्तिष्क में एक स्थान में पुञ्जीभूत होते हैं। यह स्थान चक्षुरिन्द्रिय का केन्द्र है। प्रकाश की लहरों के धक्के से आँख का पर्दा प्रताड़ित होता है, उसके संघात से नाड़ितन्तु प्रकम्पित होते हैं, उनके कम्पन से मस्तिष्क का चाक्षुष केन्द्र क्षुब्ध हो उठता है। इस क्षोभ के साथ हमको अपने अन्तःकरण में रंग की अनुभूति होती है। प्रकाशरश्मियों के तरंग-मानों में भेद होने के कारण नाड़ितन्तुओं के कम्पन और चाक्षुषकेन्द्र के क्षोभ और फलतः, रंग की अनुभूति में भेद होता है। अब यह बात ध्यान में रखने की है कि जिस वस्तु से प्रकाश की लहरें चलीं वह कहीं बाहर है, रंग का अनुभव हमारे अन्तःकरण में होता है। यदि बीच की कोई लड़ी टूट जाय, उस वस्तु में इतना कम्पन ही न हो कि उससे प्रकाश की लहरें निकलें, या आँख का पर्दा खराब हो, या पर्दे के पीछे के नाड़िजाल में कोई दोष आगया हो या चाक्षुष-केन्द्र में कुछ विकार हो या चित्त किसी और बात में व्यस्त हो तो रंग का अनुभव न होगा। जिस समय रंग का अनुभव होता भी है उस समय हमको वस्तुतः किस बात का ज्ञान होता है? एक रंग के अनुभव होने पर निश्चित रूप से तो इतना ही कहा जा सकता है कि

चाक्षुषकेन्द्र में एक विशेष प्रकार का क्षोभ हुआ। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि चक्षु पर से संलग्न नाड़िजाल प्रकम्पित हो गया। दीवार से सिर टकरा जाने पर या आँख को बन्द करके अँगुलियों से दबाने से भाँति-भाँति के रंग देख पड़ते हैं, तारे चमक उठते हैं, रंगीन फूल झड़ते हैं। यह रंग किसके हैं, तारे और फूल कहाँ हैं? अतः रंग का अनुभव केवल इतना बतलाता है कि मस्तिष्क और चाक्षुष-नाड़ियों पर एक विशेष प्रकार का आघात हुआ। हम जो यह कहते हैं कि हम किसी बाहरी वस्तु को देख रहे हैं, यह केवल अनुमान है कि नाड़ियों पर आघात प्रकाश-लहरों से हुआ होगा और यह लहरें किसी वस्तु से चलकर हमारी आँख तक पहुँची होंगी। इस बात को भुलाकर, या न समझकर, कि रंग अन्तःकरण में है और बाहर यदि कुछ है तो प्रकाशतरंग, जो हमारी आँख तक पहुँचने के पहले प्रकाशहीन है, और तरंग फेंकनेवाली वस्तु, हम रंग को उस वस्तु का गुण मान लेते हैं। यह मानना भ्रामक है, इसका प्रमाण यह है कि एक ही वस्तु कई रंग दे सकती है। लोहे का गोला सामान्यतः काला या खाकी-सा होता है। उसे आग में डालिए। पहले लाल, फिर नीला, फिर श्वेत हो जायगा और ठण्डा होने पर उलटे क्रम से नीला, पीला, लाल और फिर खाकी हो जायगा। तो फिर लोहे का वास्तविक रंग कौन-सा है? इससे तो यह बात निकली कि जब हम यह कहते हैं कि अमुक वस्तु का अमुक रंग है तो हमारे कहने का, यद्यपि हम स्वयं इस बात को नहीं जानते, तात्पर्य यह होता है कि उस वस्तु में इस समय ऐसा कम्पन हो रहा है जिससे निकली हुई तरंगें हमारी आँख के पर्दे को इस प्रकार विताड़ित कर रही हैं

कि उससे सम्बद्ध नाड़िजाल प्रकम्पित होकर चाक्षुषकेन्द्र में एक विशेष प्रकार का क्षोभ उत्पन्न कर रहा है, जिसके कारण हमारे अन्तः-करण में वह विशेष अनुभूति हो रही है जिसे अमुक रंग कहते हैं। एक छोटे-से वाक्य की बड़ी लम्बी व्याख्या हो गई, पर इसके सिवाय इस वाक्य का कोई दूसरा अर्थ नहीं है। इस वर्णन में हमारी मानस अनुभूति, चाक्षुषकेन्द्र के क्षोभ, चाक्षुष-नाड़िजाल के प्रकम्पन, हमारी आँख और वस्तु के बीच में प्रकाशलहरियों की गति और उस वस्तु के कम्पन का तो हमको ज्ञान हुआ, पर वस्तु का ज्ञान कहाँ हुआ ? अधिक से अधिक इतना ही तो कहा जा सकता है कि कोई वस्तु तो होगी, नहीं तो यह तरङ्ग आदि की परम्परा कैसे आरब्ध होती। पर वह वस्तु क्या है, कैसी है, इसका तो कुछ पता नहीं चला।

चक्षुरिन्द्रिय का हम अधिक विश्वास करते हैं, उसके द्वारा करोड़ों कोस दूर की चीज़ों का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, इसी लिए यह अंश कुछ अधिक विस्तार के साथ लिखा गया। परन्तु इसी प्रकार के आक्षेप उस ज्ञान के विषय में किये जा सकते हैं जो दूसरी किसी भी इन्द्रिय के द्वारा प्राप्त होता है। पहले तो यह सन्देह रहेगा कि शब्दादि की जो अनुभूति हमको हुई है वह केवल नाड़ियों और मस्तिष्क के तत्तत् केन्द्रों के विताड़ित होने से हुई है या किसी बाहरी वस्तु के कारण और, फिर, यदि कुछ निश्चित भी होगा तो इतना ही कि बाहर कुछ है जो हमारी इन्द्रियविशेष को प्रभावित करके हमारे अन्तःकरण में एक विशेष अनुभूति उत्पन्न कर रहा है।

हमको केवल अपनी अनुभूति का—प्रकाश, शब्द, रस, गरमी आदि का—प्रत्यक्ष, अव्यवहित ज्ञान होता है। वस्तु का ज्ञान अनुमित,

अथच व्यवहित होता है। परन्तु व्यवहार में हम अपनी अनुभूति को इस अनुमित वस्तु का गुण मान लेते हैं और गुणों के इस समूह को वस्तु का स्वरूप मान लेते हैं। प्रकाश हमारे भीतर, अन्तःकरण में है; शब्द हमारे भीतर, अन्तःकरण में है; हमारे बाहर केवल भाँति-भाँति की लहरें हैं। जब तक इन लहरों का इन्द्रियों से संयोग नहीं होता तब तक न शब्द है, न प्रकाश है, चाहे लहरें करोड़ों कोस तक तरङ्गित होती रहें। परन्तु हम ऐसा मानते हैं कि बाहरी वस्तु शब्द-प्रकाश रसमय है। यदि यह कहा जाय कि शब्दादि तो तुम्हारे अन्तःकरण में हैं, इनको छोड़कर वस्तु का सच्चा स्वरूप बताओ, तो हमको चुप रहना पड़ेगा। अतः यह स्पष्ट है कि इन्द्रियों से वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता।

इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान अपूर्ण होता है

जब कोई वस्तु प्रकम्पित होती है तब उसके चारों ओर उसी प्रकार लहरें उठती हैं जैसे पानी में कंकड़ी डालने से। इन विभिन्न प्रकार की लहरों का अध्ययन विज्ञान के विद्यार्थी करते हैं। इनमें कुछ ऐसी होती हैं जिनका हमको किसी प्रकार पता नहीं चलता। जब वस्तु का कम्पन प्रतिसेकण्ड सोलह बार तक पहुँचता है तब उससे जो लहरें उत्पन्न होती हैं उनका प्रभाव हमारे कान के पर्दे पर पड़ता है और हमको एक प्रकार का शब्द सुन पड़ने लगता है। ज्यों-ज्यों कम्पन का वेग बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों शब्द का स्वर बढ़ता जाता है। प्रतिशत २५६ कम्पन पर षड्ज स्वर निकलता है और बढ़ते बढ़ते ४८० पर

निषाद। यों ही ऊँचे स्वर और सप्तक आते-जाते हैं। ४८,००० तक पहुँचकर फिर कुछ नहीं सुन पड़ता।

शब्द की लहरों का तरंगमान एक इंच के दशांश से साढ़े पाँच फ़ुट तक होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो वस्तु प्रतिसेकण्ड १६ से ४८,००० बार तक प्रकम्पित होती है वह शब्द की लहरों को उत्पादित करती है जिनके द्वारा हमको शब्द की अनुभूति होती है और इस प्रकार वस्तु की सत्ता का भान होता है।

अब यदि उसकी कम्पनगति बढ़ने लगे तो हमको अपनी किसी भी इन्द्रिय से कोई सहायता नहीं मिलती। हमारे लिए वह वस्तु मानो है ही नहीं। कम्पन होता है, लहरें निकलती ही होंगी परन्तु हमको उनका कोई पता नहीं मिलता। कम्पनगति जब लाखों तक पहुँचती है तब हर्ट्ज़ियन लहरें निकलती हैं। ये वे लहरें हैं जिनका उपयोग बेतार के तार में और रेडियो के ब्राडकास्टिंग में होता है। फिर जब कम्पनगति और बढ़ती है तब उसमें से निकली हुई लहरें हमारी त्वगिन्द्रिय को विताड़ित करती हैं और हमको गरमी का अनुभव होने लगता है। गरमी की अनुभूति करानेवाली लहरों का तरंगमान ·००४ इंच से ·००००१५८ इंच तक होता है। ये लहरें भी आकाश में प्रकाश देनेवाली लहरों के समान प्रतिसेकण्ड लगभग ९३,००० कोस की गति से चलती हैं।

कम्पन का वेग बढ़ने दीजिए। अब उस वस्तु में से जो लहरें निकलेंगी वे हमारी चक्षुरिन्द्रिय को विताड़ित करके लाल रंग की अनुभूति करावेंगी। कम्पन की गति के बढ़ने के साथ-साथ ही लहरों का तरंगमान घटता जायगा और रंग क्रमशः लाल से नीला होता

जायगा। जब सभी रंगों को देनेवाली लहरें एक विशेष मात्रा म एक साथ ही चक्षुष्पट पर पड़ती हैं तब श्वेत प्रकाश का अनुभव होता है।*

अब यदि कम्पन का वेग और बढ़ जाय तो नये-नये प्रकार की लहरें निकलेंगी। इनमें से कुछ का पता सूक्ष्म वैज्ञानिक यंत्रों के द्वारा होता भी है। ये अदृष्ट किरणें कई प्रकार की रासायनिक क्रियायें करती हैं और इन्हीं के द्वारा विद्युच्छक्ति का वहन होता है। इनका तरंगमान ·००००००४ इंच से भी कम होता है परन्तु आकाश में ये भी प्रकाश-लहरों की भाँति प्रतिसेकण्ड ९३,००० कोस के वेग से चलती हैं। परन्तु हमारे पास ऐसी कोई इन्द्रिय नहीं है जो हमको इनका परिचय दे सके। यदि किसी वस्तु में से केवल एक ही प्रकार की लहरें, वह लहरें जिनका तरंगमान नीले रंग का अनुभव देनेवाली लहरों के तरंगमान से कम हो, निकल रही हों तो हमको उसके अस्तित्व का कुछ भी पता नहीं चल सकता। ऐसी वस्तुएँ नहीं हैं, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है परन्तु हमारे लिए वे नहीं के बराबर हैं। जगत् के एक बड़े भाग पर ताला पड़ा है।

* यह जो कम्पन के साथ रङ्ग की अनुभूति बतलाई गई है यह सूर्य, आग, तपे हुए धातुपिण्ड जैसी वस्तुओं के लिए है जो स्वयं ज्योतिर्मय हैं। हम साधारणतः जिन रङ्गीन वस्तुओं को देखते हैं उनमें अपना प्रकाश नहीं है। वह प्रत्यावर्तित प्रकाश में देख पड़ती हैं अर्थात् सूर्य या अन्य ज्योतिर्मय पिण्ड का प्रकाश उन पर पड़ता है और फिर टकराकर हमारी आँखों तक पहुँचता है। यदि कोई वस्तु हरी देख पड़ती है तो इसका कारण यह है कि वह अन्य सब लहरों को अपने में सोख लेती है और केवल उन लहरों को लौटाती है जो हमको हरे रङ्ग की अनुभूति देती हैं।

और जिस भाग का हमको अनुभव है उसका भी परिचय कितना अधूरा है! यह तो हम पहले ही देख चुके हैं कि इन्द्रियाँ हमको वस्तुओं का अव्यवहित ज्ञान नहीं देतीं। हमको अधिक से अधिक इतना कहने का अधिकार प्राप्त होता है कि उस वस्तु में कुछ ऐसा कम्पन हो रहा है जिसका प्रभाव अमुक इन्द्रिय के द्वारा हमारे अन्तःकरण पर अमुक रंग या शब्द के रूप में पड़ रहा है। इस रंग या शब्द या अन्य अनुभूति को उस वस्तु का गुण मानकर हम अपने लिए वस्तु का एक चित्र बना लेते हैं। परन्तु अब ऐसा विदित होता है कि इन्द्रियाँ पूरा काल्पनिक चित्र भी नहीं बनवा सकतीं। वस्तु से लहरें चलीं, उनको ग्रहण करनेवाली कोई इन्द्रिय नहीं है। जब वेग बढ़ा तब श्रवणेन्द्रिय ने कुछ लहरों को पकड़ा, फिर वह हार गई।

लहरें आती रहीं परन्तु ग्रहण करनेवाला कोई नहीं। कुछ आगे चलकर त्वगिन्द्रिय ने कुछ को उष्णस्पर्श के रूप में अधिकृत किया। फिर चक्षुरिन्द्रिय का क्षेत्र आया। उसने कुछ लहरों से विभिन्न रंगों की अनुभूतियाँ दिलवाईं। इसके बाद सन्नाटा है। चाहे जितनी और जैसी लहरें उठती रहें, हमारे* पास उनके अस्तित्व से प्रभावित होने का कोई साधन नहीं है। इसलिए उनके सम्बन्ध से हमको कोई

* घ्राण और रस की इन्द्रियाँ उन्हीं वस्तुओं का बोध कराती हैं जो नाक और जिह्वा के संयोग में आती हैं। रस और गन्ध भी रंग और शब्द की भाँति मानस अनुभूतियाँ हैं परन्तु यहाँ किसी प्रकार की लहर आदि का व्यवधान नहीं होता। वस्तु नाड़ितन्तु को प्रताड़ित करके मस्तिष्क के तत्तत् केन्द्र को क्षुब्ध करती है और फिर हम रस या गन्ध-गुण का उस वस्तु में आरोप करते हैं।

अनुभूति नहीं होती। यदि इन्द्रियों की संख्या अधिक होती तो हमारी अनुभूतियों की संख्या भी अधिक होती, हमको वस्तुओं के अधिक गुणों का भान होता और हम वस्तुओं का अधिक भरापूरा चित्र खींच सकते। परन्तु इन्द्रियों की अपूर्णता या अल्पता के कारण हमारा अनुभव भी अल्प और अपूर्ण रह जाता है।

दिक् और काल की स्वतन्त्र सत्ता संदिग्ध है

यदि किसी से पूछा जाय कि सब वस्तुएँ कहाँ स्थित हैं, तो वह कहेगा कि आकाश में। आकाश के लिए दिक् अच्छा दार्शनिक शब्द है। यदि यह पूछा जाय कि घटनायें किसमें घटती हैं तो उत्तर होगा कि काल में। प्रत्येक वस्तु दिक् के किसी प्रदेश में, काल के इसी विन्दु पर रहती है। दिक् और काल के निर्देश से प्रत्येक वस्तु का पूरा-पूरा निर्देश हो जाता है। अमुक स्थान से इतना उत्तर, अमुक स्थान से इतना पूर्व, इतना बजकर इतने मिनट पर—इतना बता देने पर फिर पहचानने में कोई कठिनाई नहीं पड़ सकती। इसी बात को दार्शनिक लोग यों कहते हैं कि दिक् और काल सभी वस्तुओं के अवच्छेदक हैं, सभी वस्तुएँ दिक्कालावच्छिन्न होती हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं होती जो दिक् या काल के बाहर हो।

दिक् और काल निःसीम प्रतीत होते हैं। चाहे जितने अर्ब-खर्ब कोस तक दूरबीन से देखिए, चाहे जितने दूर की बात सोचिए, उस जगह के चारों ओर दिक् ही दिक् होगा। हम ऐसी जगह की कल्पना ही नहीं कर सकते जहाँ दिक् न हो। 'जगह' शब्द आप ही दिक् को ला खड़ा करता है। जब हम 'कुछ नहीं' की बात सोचते हैं तब भी

अन्तःकरण में यही रहता है कि दिक् है पर वस्तु शून्य है; अन्य अनुभूति तो नहीं होती पर ऐसा प्रतीत होता है कि दिक् है। दिक् स्वतः मस्तिष्क के किसी केन्द्र को क्षुब्ध नहीं करता, वह किसी इन्द्रिय का विषय नहीं है, हमारी कोई ऐसी अनुभूति नहीं है जिसको हम दिक् की अनुभूति कह सकें, फिर भी कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि दिक् की सत्ता का अनुभव हो रहा है।

यही बात काल के लिए भी है। चाहे जितने करोड़ वर्ष आगे-पीछे की बात सोची जाय, काल के अन्त या आदि की कल्पना नहीं की जा सकती। जब कोई घटना घटित न हो रही हो तब भी शून्य काल रहता है, ऐसा प्रतीत होता है। काल भी किसी इन्द्रिय-विशेष का विषय नहीं है, वह मस्तिष्क के किसी केन्द्र को क्षुब्ध नहीं करता, उसके सम्बन्ध में हमको कोई स्वतन्त्र अनुभूति नहीं होती, फिर भी ऐसा जान पड़ता है कि काल की सत्ता का अनुभव हो रहा है।

हम दिक् में आगे, पीछे, दाहिने, बायें, ऊपर, नीचे आदि विभेद करते हैं। इन विभेदों के लिए इञ्च, गज़, कोस आदि नाप बनाते हैं। इसी प्रकार काल में आगे, पीछे, भूत, वर्तमान, भविष्यत् भेद करते हैं और इनको पल, घड़ी, घंटा, वर्ष आदि से नापते हैं।

अब यह तो स्पष्ट ही है कि दिग्विभेद आपेक्षिक हैं। जो एक के लिए ऊपर है वह दूसरे के लिए नीचे है, एक का दाहिना दूसरे का बाँया है, एक का आगे दूसरे का पीछे है। इसी प्रकार जो एक का भूत है वही दूसरे का भविष्यत् है और तीसरे का वर्तमान है। अतः इन विभेदों की तो कोई स्वतः सत्ता नहीं है, ये अनुभव करनेवाले

पर, दार्शनिक पुस्तकों की भाषा में द्रष्टा या ज्ञाता पर, निर्भर हैं। परन्तु यह प्रतीत होता है कि दिक् और काल जिनके ये विभेद हैं नित्य और सत्य हैं।

हमारे अन्त:करण की बनावट ही कुछ ऐसी है कि वह एक वस्तु या घटना का अनुभव कर लेता है, फिर दूसरे का अनुभव करता है। इन्द्रियों पर जो लहरियों के आघात होते हैं और उनसे मस्तिष्क के पृथक्-पृथक् केन्द्रों में क्षोभ होते हैं इन क्षोभों से जो अनुभूतियाँ होती हैं वह युगपत् नहीं होतीं। एक ही श्रवणेन्द्रिय पर, एक ही चक्षुरिन्द्रिय पर सैकड़ों दिशाओं से आघात हो रहे हैं, इन आघातों के कारण चित्त में अनुभूतियाँ होती हैं। चित्त को एक अनुभूति से कूदकर दूसरी पर जाना पड़ता है। एक अनुभूति नष्ट होती है, दूसरा उसका स्थान लेती है। चित्त जिसमें ये अनुभूतियाँ हैं और जिसमें नष्ट अनुभूतियों के भी संस्कार, निशान, याद, स्मृति बने रहते हैं, इनमें सम्बन्ध स्थापित करता है। दो स्वतंत्र अनुभूतियों के बीच में चित्त एक डोर लगा देता है। ख़ूब सोचिए, चित्त से सब वस्तुओं को निकाल दीजिए, फिर देखिए कि अकेले 'पर' या 'में' या 'पहले' या 'बाद' की कोई अनुभूति होती है, कोई चित्र बनता है। यदि 'मेज़ पर पुस्तक' की अनुभूति होती है, तो जहाँ 'मेज़' और 'पुस्तक' की पृथक् अनुभूति होती है, वहाँ 'पर' की भी होनी चाहिए, पुस्तक और मेज़ की यदि स्वतंत्र सत्ता है तो यह अकेले भी अनुभव में आ सकते हैं। ऐसा होता भी है। परन्तु अकेले 'पर' का अनुभव कभी नहीं होता। तो फिर ऐसा क्यों न माना जाय कि में, पर, ऊपर, नीचे, इधर, उधर, आगे, पीछे, पहले, बाद, ये सारे संबंध

अन्तःकरण के गढ़े हुए हैं ? वस्तुएँ स्वतंत्र हैं, उनमें आपस में कोई संबंध नहीं है परन्तु अन्तःकरण उनका पृथक्-पृथक् अनुभव करता है और अपने अनुभवों को एक दूसरे से मिलाकर जो संबंध उनमें स्थापित करता है उसे वस्तुओं पर आरोपित करता है। जब यह संबंध-वाची शब्द में, पर, आगे, बाद इत्यादि हमको किसी प्रकार की अनुभूति-द्वारा अपनी सत्ता का प्रमाण नहीं दे सकते तब फिर हम ऐसा क्यों न मानें कि इनकी कोई स्वतंत्र सत्ता है ही नहीं, इनका अस्तित्व केवल अन्तःकरण में है ? यह ऐसा ही है जैसे एक कमरे में पहले से एक डोर बँधी हो और बाहर से ला-लाकर बहुत-सी वस्तुएँ, ऐसी वस्तुएँ जो अलग-अलग जगहों से आई हों, उस डोर पर लटका दी जायँ। डोर पर लटकने से सब एक दूसरे से संबद्ध हो गई। तब यह कहा जाय कि कमरे के बाहर भी इनमें इसी प्रकार का संबंध था। जब तक यह निश्चित न हो जाय कि बाहर भी ऐसी ही डोर थी और उस पर यह सब वैसी ही लटक रही थीं तब तक ऐसा कथन ठीक न होगा। इसी प्रकार अनुभूतियों में संबंध देखकर यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि जिन वस्तुओं की यह अनु-भूतियाँ हैं वह भी इसी प्रकार सम्बद्ध हैं।

हम देखते हैं कि ऊपर, नीचे, में, पर आदि दिक् के अवयवों और पहले, पीछे रूपी काल के अवयवों की स्वतंत्र सत्ता में, अर्थात् हमारे अन्तःकरण से स्वतंत्र सत्ता, में सन्देह किया जा सकता है। पर जहाँ अवयवों की ही सत्ता नहीं, वहाँ अवयवों की सत्ता कैसी ? टुकड़ों के जोड़ का ही तो नाम पूरा है। यदि दिग्विभाग अन्तःकरण के बाहर नहीं हैं और काल-विभाग अन्तः-

करण के बाहर नहीं हैं तो फिर ऐसा क्यों न कहें कि दिक् और काल अन्तःकरण से बाहर, अन्तःकरण से पृथक्, नहीं हैं ? इसी बात को यों कहते हैं कि दिक् और काल अन्तःकरण के धर्म्म हैं।

यह बात यों भी सोची जा सकती है। इस समय तो अन्तःकरण में अनुभूतियों का ताँता लगा रहता है। लाल, पीली, खट्टी, मीठी, श्रुतिमधुर, कर्णकटु, गरम, ठंडी, सुखद, दुःखद—वृत्तियाँ उठती रहती हैं और विलीन होती रहती हैं। परन्तु यदि कोई वस्तु, कोई घटना अन्तःकरण के सामने न आये, किसी प्रकार की अनुभूति न हो, क्या तब भी दिग्भेद और कालभेद प्रतीत होंगे ? क्या ऐसे अन्तःकरण को जो अनुभूतिशून्य रहा है, दिक् और काल की कल्पना होगी ? यदि दिक् और काल अन्तःकरण के धर्म्म हैं तो उनका अनुभव होना ही चाहिए, यह कोई आवश्यक बात नहीं है। पाचनशक्ति शरीर का धर्म्म है परन्तु उसकी अभिव्यक्ति तो तभी होती है जब कोई पचनीय वस्तु पेट में जाती है। इसी प्रकार सम्भवतः दिक् और काल की प्रतीति अनुभूतियों पर निर्भर करती है। यदि अनुभूतियाँ हुईं तो अन्तःकरण उनको दिक् और काल के सूत्र पर रुद्राक्ष के दानों की भाँति पिरो देगा। अब जो चित्त में कुछ न होने की दशा में ऐसा जान पड़ता है कि हमको दिक् और काल की प्रतीति हो रही है उसका कारण यह हो सकता है कि बराबर अनुभूतियों की परम्परा लगी रहती है, इसलिए अन्तःकरण में और किसी अनुभूति के अभाव में ऐसी प्रतीक्षावृत्ति बनी रहती है कि अब कोई अनुभूति होनेवाली है। अनुभूति दिक्काल से अवच्छिन्न होती ही है इसलिए अनुभूति की प्रतीक्षा, अनुभूति की सम्भावना की अपनी मानस अवस्था पर जब हम

विचार करते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें भी दिक्काल विद्य-मान थे और हमको उनका अनुभव हो रहा था।

एक शंका और हो सकती है। यदि दिक्काल अन्तःकरण के धर्म्म हैं तो फिर वस्तुएँ हमको अन्तःकरण में, मन में, देख पड़नी चाहिए। पर ऐसा तो नहीं होता। हम वस्तुओं को तो मन में नहीं, मन के बाहर, अपने शरीर के बाहर, पाते हैं। प्रत्यक्ष में होता तो ऐसा ही है पर आइए हम आप इस दृग्विषय पर थोड़ा विचार करें। सामने आग जल रही है। उसमें प्रकाश है, जलन है, कुछ आकृति है, लपटों से कुछ ध्वनि निकलती है। जहाँ तक हमारे अव्यवहित अनुभव की बात है इसी जलन, प्रकाश, ध्वनि और आकृति के संयोग का नाम आग है। यह सब अनुभव अन्तःकरण में हो रहे हैं। यदि आँख बन्द कर ली जाय या चक्षुष्पट के पीछे के नाड़ितन्तु नश्तर से काट दिये जायँ या किसी औषध के प्रभाव से या सिर में लाठी की चोट लगने से चाक्षुषकेन्द्र ख़राब हो जाय तो हमारे लिए आग ज्योतिर्हीन हो जायगी। यदि त्वक् के किसी भाग से लगा हुआ ज्ञाननाड़ितन्तु काट दिया जाय तो हमको उस जगह आग के दाहकत्व का अनुभव न होगा अर्थात् त्वक् के उस भाग को आग में डाल देने पर भी जलन का अनुभव न होगा। अतः नाड़ियों और मस्तिष्क-केन्द्रों के क्षोभ से जनित अनुभूतियों का, जो अन्तःकरण में हो रही हैं, नाम आग है। यह तो हम देख चुके हैं कि अन्तःकरण अपनी अनुभूतियों में दिक् और काल का सम्बन्ध स्थापित करता है। उसी प्रकार वह एक और सम्बन्ध भी जोड़ता है जिसे निमित्त कहते हैं। निमित्त को, दूसरे शब्दों में, कार्य्यकारणभाव भी कहते हैं। जहाँ अन्तःकरण

एक अनुभूति को दूसरे के पहले या पीछे, ऊपर या नीचे रखता है उसी प्रकार एक को दूसरे का कारण ठहराता है। जिस प्रकार प्रत्येक अनुभूति के साथ कहाँ और कब लगा हुआ है उसी प्रकार क्यों भी लगा हुआ है। सबका स्थान, सबका समय और सबका कारण होना चाहिए, ऐसा अन्तःकरण का स्वरूप है। जिस प्रकार दिक्काल अनादि और अनन्त प्रतीत होते हैं उसी प्रकार कारण-कार्य-प्रवाह भी अनादि और अनन्त प्रतीत होता है। क्यों कहीं भी, कभी भी अप्रष्टव्य नहीं होता। यह भी समझ में आता है कि यदि किसी प्रकार की अनुभूति न हो तो जिस प्रकार दिक् और काल की प्रतीति न होगी, वैसे ही इस भाव की भी प्रतीति न होगी। दूसरे शब्दों में, दिक् और काल की भाँति निमित्त भी अन्तःकरण का धर्म्म है।

जब कोई अनुभूति होती है तब साथ ही अन्तःकरण क्यों पूछ-कर उसको अपने सम्बद्ध जगत् का अंग बनाना चाहता है। यदि वह अनुभूति किसी अतीत अनुभूति, जैसे किसी स्मृति से मिलाई जा सकी तो उसका कारण भीतर ही मिल गया अन्यथा अपने बाहर ढूँढ़ा जाता है। कारण भीतर है या बाहर इसका निर्णय बुद्धि, जो अन्तःकरण का श्रेष्ठतम अंग है, करती है। यदि कारण बाहर ढूँढ़ा गया अर्थात् यदि बुद्धि का यह निर्णय हुआ कि कोई न कोई वस्तु बाहर है जो ऐसी अनुभूति उत्पन्न कर रही है तो फिर अन्तःकरण अपने दिक् और काल दोनों धर्म्मों को अपने बाहर आरोपित करता है और इस प्रकार अपने प्रकाश, जलन आदि अनुभूतियों को, जो दिक् और काल से परिच्छिन्न हैं, वस्तु के रूप में बाहर स्थापित करता है, क्योंकि इन अनुभूतिरूपी गुणों के सिवाय वस्तु का और तो कोई

परिज्ञान होता नहीं। इस प्रकार जो भीतर था वह बाहर आ जाता है या यों कह लीजिए कि जो बाहर से भीतर गया था वह पुनः बाहर आ जाता है।

इस सारे तर्क में दो बातें ध्यान रखने की हैं। एक तो यह कि यह बात अस्वीकार नहीं की गई है कि अन्तःकरण के बाहर जगत् में वस्तुएँ हैं। यहाँ 'बाहर' से तात्पर्य्य है उससे भिन्न, पृथक् और उसको प्रभावित करने की क्षमता रखनेवाली। दूसरी बात यह है कि हमने यह भी नहीं कहा है, दिक् और काल की स्वतंत्र सत्ता नहीं है और वे निश्चित रूप से अन्तःकरण के धर्म्म हैं ही। हमने इतना ही दिखलाया है कि हम जो यह मान लेते हैं, दिक्काल की अन्तःकरण से स्वतंत्र सत्ता है और वस्तुएँ सत्य दिक् और सत्य काल में रहती हैं इस धारणा पर सन्देह किया जा सकता है और ऐसा मानने के लिए भी कुछ हेतु हैं कि यह जगत् जिसका हमको साक्षात्कार हो रहा है, हमारे अन्तःकरण के बाहर नहीं है, वरन हमारा मनोराज्य है।

इस पर कई प्रकार के आक्षेप किये जाते हैं। एक तो यह है कि सब लोगों को एक-सी ही प्रतीति क्यों होती है? यदि मुझको सामने पेड़ देख पड़ता है तो आपको भी ठीक वही पेड़ क्यों देख पड़ता है? पेड़ मेरे मनोराज्य में है या आपके? दूसरी शंका यह होती है कि यदि मैंने महीने भर हुए एक बिल्ली का बच्चा देखा था और आज फिर उसे देखता हूँ तो बड़ा पाता हूँ। तो क्या वह मेरे मनोराज्य में, मेरे अन्तःकरण में, मेरे मन में, बढ़ता रहा? इसी प्रकार के और भी कई प्रश्न पूछे जाते हैं। हमने उदाहरण के लिए इन दो को लिया है।

अब पहले प्रश्न को लीजिए। यदि मेरा और आपका अन्त:करण एक जैसा ही है और कोई ऐसी वस्तु है जो इन्द्रियों को प्रताड़ित करके मस्तिष्क-केन्द्रों में क्षोभोत्पादन-द्वारा अन्त:करण में वैसी अनुभूतियाँ उत्पन्न कर सकती है जिनका दिक्कालविशिष्टरूप पेड़ है तो फिर मुझको, आपको और दूसरे सभी लोगों को पेड़ देख पड़ना चाहिए। प्रभावित होनेवाले अन्त:करण एक से, प्रभावित करनेवाली वस्तु एक ही, फिर प्रभाव में अर्थात् अनुभूति में विषमता कैसे हो सकती है ?

एक और विचारणीय बात है। मेरे लिए आपके अस्तित्व का क्या प्रमाण है ? मेरे लिए तो आप भी मानस-अनुभूतियों का एक समुच्चय हैं जिसको मैंने अपने अन्त:करण के बाहर उसी प्रकार स्थापित किया है जिस प्रकार कि किसी दूसरी वस्तु को स्थापित करता हूँ, जिस प्रकार कि अपने सामने के पेड़ को करता हूँ। ऐसी दशा में आप मेरे मनोराज्य में हैं। अपनी ओर से आप भी यह कह सकते हैं कि मैं आपके मनोराज्य में हूँ। यहाँ विचार बहुत कठिन और गम्भीर हो चला। इससे अधिक बढ़ाने का यह स्थल नहीं है परन्तु हमारी आपकी सत्तायें, हमारे मनोराज्य, किस प्रकार टकराते हैं, इसका कुछ आभास मिलता है और यह भी कुछ-कुछ समझ में आ सकता है कि जो एक अन्त:करण के भीतर है वह दूसरे के भी भीतर कैसे रह सकता है।

दूसरी ग्रंथि भी खोली जा सकती है। यदि यह कहा गया होता कि अन्त:करण के बाहर कुछ भी नहीं है तो कुछ कठिनाई पड़ती। पर हम तो इस बात की सम्भावना मानते आये हैं कि बाहर

कुछ है। बाहर जो कुछ भी हो, उसका एक बार अन्तःकरण पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि छोटी बिल्ली की अनुभूति हुई। दूसरी बार बाहर जो कुछ भी हो उसके प्रभावस्वरूप बड़ी बिल्ली की अनुभूति हुई। बिल्ली अन्तःकरण में नहीं बढ़ी। छोटी बिल्ली और बड़ी बिल्ली की अनुभूति करानेवाली चाहे दो वस्तुएँ हों चाहे पहली ही वस्तु में अब कुछ परिवर्तन हो गया हो।

सम्भव है जगत् मनोराज्य ही हो

ऊपर तो हम यह मानते आये हैं कि अन्तःकरण के बाहर वस्तुएँ हैं, वे अन्तःकरण को प्रभावित करती हैं और फिर अन्तःकरण अपनी अनुभूतियों को उन वस्तुओं का स्वरूप मानकर उनको बाहर स्थापित करता है। पर ऐसा भी माना जा सकता है कि जो कुछ है वह मानस है। जो लोग ऐसा मानते हैं उनका ऐसा विश्वास है कि यह समूचा जगत् ईश्वर के अन्तःकरण में विचाररूप से विद्यमान है। जिस प्रकार हमारे छोटे अन्तःकरण में तर्क-वितर्क के द्वारा विचारों की वृद्धि होती है,— छोटा से विचारबीज बड़े बड़े काव्य-ग्रंथों और दुरूह शास्त्रों के रूप में विकास को प्राप्त होते हैं—इसी प्रकार ईश्वर के अन्तःकरण में यह जगत् विकास को प्राप्त होता रहता है और बदलता रहता है। कभी-कभी हमारे अन्तःकरण में ईश्वरीय अन्तःकरण का प्रतिबिम्ब पड़ता है। ईश्वर के अन्तःकरण में बिल्ली का विचार उत्पन्न हुआ, छोटे से बड़ा हुआ। हमको उसका प्रतिबिम्ब दोनों बार मिला, हमको छोटी और बड़ी बिल्ली की अनुभूति हुई। ऐसे समय हम ईश्वर के ज्ञान का अंशतः अनुभव करते हैं।

फिर अन्तःकरण अपने स्वाभाविक व्यापार के अनुसार वस्तु को बाहर स्थापित करता है।

ऊपर जो बातें कही गई हैं वे और गम्भीर अनुशीलन करने पर सिद्ध हो सकें या न हो सकें परन्तु वे हमको सोचने पर विवश करती हैं और यह बतलाती हैं कि जगत् के विषय में हमने जो धारणायें बना रक्खी हैं वह स्वतः सिद्ध नहीं हैं।

जगत् जंगम है पर हम उसको स्थावररूप में देखते हैं

जंगम का अर्थ है चल, गतिमान् और स्थावर का अर्थ है निश्चल, ठहरा हुआ। सभी खेचरपिण्ड—नीहारिका, नक्षत्र, हमारा सूर्य, ग्रह, पृथिवी—निरन्तर चल रहे हैं, कोई एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता। प्रत्येक वस्तु के अंगभूत अणु चल रहे हैं। रसायनशास्त्र के पण्डित कहते हैं कि आलपीन के सिरे के बराबर बर्फ़ के टुकड़े में १०,००,००,००,००,००,००,००,००० अणु हैं और ये आपस में प्रति सेकण्ड हज़ारों बार टकराते हैं। यही दशा दूसरे द्रव्यों की है। भौतिक विज्ञान कहता है कि अणुओं के अंगभूत परमाणुओं के भीतर विद्युत्कण हैं। सबसे सरल हाइड्रोजन का परमाणु है। इसमें बीच में एक धनविद्युत्कण है, उसके चारों ओर एक ऋणविद्युत्कण घूमता रहता है। इसके घूमने का वेग प्रतिसेकण्ड एक लाख कोस से अधिक है।

प्रत्येक शरीर में रासायनिक तथा अन्य प्रकार की क्रियायें प्रतिक्षण होती रहती हैं और इनके फलस्वरूप परिवर्तन होता रहता है। हमको इन परिवर्तनों का पता दीर्घ काल के बाद लगता है परन्तु यदि प्रतिक्षण थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन न हो तो दीर्घ काल में बड़ा

परिवर्तन न देख पड़े। इसी प्रकार हमारी मानसवृत्तियों में भी परिवर्तन होता रहता है।

परन्तु हमको जगत् की जंगमता, परिवर्तनशीलता का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। प्रत्येक अनुभूतिक्षण में जगत् निश्चल, शान्त, प्रतीत होता है। फ़्रेञ्च दार्शनिक बेर्गसाँ ने यह बात एक उदाहरण-द्वारा समझाई है। किसी भी चलती चीज़ का फोटो निश्चल होता है। सिनेमा के लिए हम चलती चीज़ों के सैकड़ों चित्र लेते हैं और इन चित्रों को एक दूसरे के बाद बहुत जल्दी-जल्दी देखने से गति की भावना भी हो जाती है परन्तु स्वत: हर चित्र गतिहीन है। अब यदि यह चित्र उस चीज़ के स्वरूप के द्योतक होते तो उस चीज़ को निश्चल होना चाहिए था क्योंकि गतिहीनता की समष्टि गति नहीं हो सकती। एक यूनानी दार्शनिक ज़ीनो ने आज से दो हज़ार वर्ष पहले इस बात को यों कहा था। कमान से छूटे हुए तीर को लीजिए। हम प्रत्येक क्षण में कहते हैं कि तीर अब यहाँ है, अब यहाँ है। 'है' स्थिरता का व्यञ्जक है। जब तीर प्रत्येक क्षण में है, अर्थात् स्थिर है, तो फिर वह चल, अस्थिर, कैसे कहा जा सकता है और उसका स्थानपरिवर्तन कैसे देख पड़ता है ? इस शंका का समाधान यह है कि न तो चित्र चलन का द्योतक होता है न भाषा। भाषा भी अवस्थाओं को, ठहरे स्वरूपों को, व्यक्त करती है। अस्तु, तो हमारे अन्त:करण में भी जगत् की जो अनुभूति होती है वह चित्र की भाँति सदोष है। उसमें उस गति, उस जंगमता, चलन-शीलता का पता नहीं चलता जिससे जगत् का छोटा से छोटा टुकड़ा फड़क रहा है। जीता-जागता जगत् हमारे सामने निश्चेष्ट मुर्दे की भाँति आता है।

यह कहना कठिन है कि बाहर एक वस्तु है या कई वस्तुएँ हैं

हम यह बराबर कहते आये हैं कि वस्तुएँ हमारे अन्तःकरण पर प्रभाव डालकर अनुभूतियाँ उत्पन्न करती हैं। इस बहुवचन प्रयोग का तात्पर्य यह है कि हम ऐसा मानते हैं कि वस्तुएँ बहुसंख्यक, एक से अधिक हैं। सामान्यतः ऐसा समझ में भी आता है कि जब अनुभूतियाँ अनेक प्रकार की होती हैं और उनके कई पृथक् गुच्छे होते हैं, तो उनके कारण-स्वरूप वस्तुएँ भी बहुत-सी होती होंगी। कुछ अनुभूतियों का गुच्छा है जिसे हम मेज़ कहते हैं, अनुभूतियों का दूसरा गुच्छा है जिसे हम पुस्तक कहते हैं। तो फिर ऐसा मानना ठीक जँचता है कि कोई दो वस्तुएँ होंगी जिनमें से एक मेज़वाली और दूसरी पुस्तकवाली अनुभूति भेजती होगी। यह भी मानने को जी चाहता है कि अन्तःकरण के बाहर सचमुच मेज़ और पुस्तक हैं और अन्तःकरण में उनका यथावत् फोटो खिंच आता है। यह विचार स्यात् सच ही हो पर हम ऊपर देख चुके हैं कि इसमें सन्देह का स्थल है।

एक प्रश्न और उठता है। इसका ही क्या भरोसा है कि बाहर अनेक वस्तुएँ हैं ? सम्भव है कि एक ही वस्तु हो जो हमारे अन्तःकरणों को अनेक प्रकार से प्रभावित कर रही हो। हमारा अन्तःकरण उससे आये हुए सब प्रभावों को एक साथ ग्रहण नहीं कर सकता, इसलिए अनुभूतियों में विच्छेद होता हो, और हमको नानात्व की प्रतीति होती हो। उस एक वस्तु में यदि किसी प्रकार का परिवर्तन होता होगा

तो वह परिवर्तन हमारे सामने प्रतीत होनेवाली मूर्तियों में वृद्धि-क्षय आदि रूपों में आयेगा। परिवर्तन किस प्रकार होता है इसका हमको प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि हमको परिणामी वस्तु का ही प्रत्यक्ष नहीं है।

साक्षी का स्वरूप भी अनिश्चित है

जितने अनुभव होते हैं वह मुझको होते हैं। 'मैं' ही अपनी अनुभूतियों का, और इन अनुभूतियों के द्वारा जगत् का साक्षी हूँ। सुख-दुःख मुझको होते हैं, ज्ञान मुझको होता है, डर मुझको लगता है, प्रेम मैं करता हूँ, शरीर मेरा है, अन्तःकरण मेरा है। ऐसे प्रयोग सभी लोग करते हैं। इन वाक्यों की तह में यह भावना है कि 'मैं' शरीर, चित्र और चित्त की सब वृत्तियों का साक्षी है और उनसे अलग है। ऐसा सबको विश्वास है कि देह घटती-बढ़ती है, बुद्धि बनती-बिगड़ती है पर 'मैं' ज्यों का त्यों रहता हूँ। बच्चे का 'मैं' बूढ़े के मैं से छोटा नहीं होता; अङ्ग-भङ्ग होने पर भी 'मैं' में कोई कमी नहीं आती। अतः यह 'मैं' सत्य है।

पर यह बात इतनी सरल नहीं है। यह भी हो सकता है कि 'मैं', जिसको आत्मा भी कहते हैं, कल्पनामात्र हो। हमारी कुछ ऐसी धारणा है कि जिस प्रकार भेड़-बकरियाँ बिना मालिक के नहीं पाई जातीं उसी प्रकार अनुभूतियाँ बिना साक्षी के, बिना मालिक के, नहीं होतीं। सुख-दुःखादि का अनुभव होता है तो कोई अनुभव करने-वाला भी होगा। चित्त की अवस्था के लिए अनुभूति शब्द का तो मैंने सुविधा के लिए प्रयोग किया है, शुद्ध शब्द तो 'वृत्ति' है। तो

ऐसा माना जाता है एक नित्यचेतन आत्मा है जो इन वृत्तियों का द्रष्टा, साक्षी, ज्ञाता है। जैसे रुद्राक्ष के दानों को रेशम का सूत्र बाँधे रखता है, उसी प्रकार यह 'मैं' प्रमाण, स्वप्न, स्मृति आदि वृत्तियों को धारण किये रहता है।

अब थोड़ी देर के लिए, शान्ति के साथ अपने चित्त की अवस्थाओं की जाँच कीजिए। काम कठिन है परन्तु असम्भव नहीं है। अपनी किसी समय की अवस्था ले लीजिए। जिस समय कोई सुखद बात हुई हो, उस समय सुख की वृत्ति तो रहती है, आप कहते भी हैं कि मैं सुखी हूँ या सुख का अनुभव कर रहा हूँ। पर क्या सुख से पृथक् किसी 'मैं' का भी अनुभव होता है? इसी प्रकार दुःख में, भय में, प्रेम में, क्रोध में, कभी किसी 'मैं' का पता चलता है? बात याद आती है, संगीत सुना जाता है, पुष्प देखा जाता है परन्तु स्मरण, श्रवण, दर्शन के साथ-साथ कहीं वह 'मैं' भी मिलता है जो इन अवस्थाओं का साक्षी बतलाया जाता है?

कभी-कभी वृत्ति बड़ी ढीली-सी रहती है, चित्त कुछ सुसताता-सा रहता है, विचारधारा बड़ी धीमी गति से बहती प्रतीत होती है। उस समय देखिए कहीं 'मैं' पकड़ में आता है? कभी कोई भी ऐसी अनुभूति होती है जिसके विषय में निश्चयपूर्वक यह कहा जा सके कि यह सुख, दुख आदि किसी अन्य चीज़ की नहीं प्रत्युत शुद्ध 'मैं' की अनुभूति है?

इस प्रकार अपने चित्त के भीतर घुसना सुन्दर नहीं है परन्तु बड़ा रोचक है, और इस प्रश्न के निबटारे का बड़ा अच्छा उपाय है। मैं

समझता हूँ कि जो इस साधन से काम लेगा उसको ही यह शंका होने लगेगी कि वस्तुतः कोई पृथक् 'मैं' नहीं है बरन उसकी सत्ता कल्पित है। यह शंका साधार हो या निराधार परन्तु 'मैं' के अस्तित्व में विश्वास न करनेवालों में पृथ्वी के कई बड़े विद्वान् हो गये हैं। बुद्ध भगवान् के भी कुछ ऐसे ही विचार थे।

'मैं' की सत्ता न माननेवालों से यह प्रश्न पूछा जाता है कि यदि कोई स्वतंत्र साक्षी नहीं है तो वृत्तियों का ज्ञाता कौन है। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि आत्मा है तो उसका ज्ञाता कौन है। यदि इसका उत्तर यह दिया जाय, जैसा कि दिया जाता है, कि आत्मा अपना आप ज्ञाता है तो फिर यह क्यों न कहा जाय कि वृत्ति भी अपनी आप ज्ञाता होती है ?

यह बात सुनने में बड़ी विलक्षण जान पड़ती है। जिस समय घड़ा देख पड़ता है, यानी दार्शनिक परिभाषा में चित्त की वृत्ति घटाकार होती है, उस समय यह कहा जाता है कि चित्त की वृत्ति घट को जानती है और मैं चित्त की वृत्ति को जानता हूँ या दूसरे शब्दों में मैं घड़े को जानता हूँ और यह जानता हूँ कि घड़े को जानता हूँ। पर यदि दूसरा मत ठीक है तो यों कहना पड़ेगा कि चित्त की वृत्ति घड़े को जानती है और अपने को जानती है अर्थात् चित्त की वृत्ति घड़े को जानती है और यह जानती है कि घड़ा जाना जा रहा है। इस पर दो आक्षेप तत्काल हो सकते हैं। वृत्तियाँ परिवर्तनशील और नश्वर हैं। एक वृत्ति नष्ट होती है, दूसरी उत्पन्न होती है।

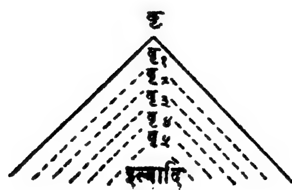
परन्तु 'मैं' तो स्थिर, एकरस, जान पड़ता है। दूसरे यदि वृत्तियाँ

आती-जाती रहें और उनका कोई स्थिर आधार न हो, कोई ऐसी चीज़ न हो जिस पर नष्ट होने के पहले वृत्ति अपना कुछ संस्कार, कोई निशान छोड़ जाय तो फिर एक बार की नष्ट हुई वृत्ति दूसरी बार नहीं जाग सकती और पुराने अनुभवों की स्मृति नहीं हो सकती। परन्तु इन आक्षेपों का उत्तर दिया जा सकता है।

वृत्ति नष्ट तो होती है पर नष्ट होने के पहले अपना संस्कार अपने पीछे आनेवाली वृत्ति को दे जाती है। दो वृत्तियों के बीच में शून्य नहीं होता। जहाँ एक वृत्ति समाप्त होती है, वहीं दूसरी आरम्भ होती है। यदि पहली वृत्ति क है और दूसरी ख तो दोनों का मिलन-



स्थान, अर्थात् क का लय और ख का उदय क्षण, अ है। अपने निर्वाण के साथ क अपना संस्कार ख को दे जाती है। अतः प्रत्येक वृत्ति के भीतर पिछले सब अनुभव संस्काररूप से विद्यमान हैं। यदि किसी क्षणविशेष की वृत्ति वृ है तो उसके उदर में संस्काररूप से पहले की असंख्य वृत्तियाँ वृ१, वृ२, वृ३ इत्यादि विद्यमान हैं।



इसलिए परम्परा का विच्छेद नहीं होने पाता और एक अखण्ड 'मैं' की प्रतीति तथा विगत अनुभवों की स्मृति होती है। अतः ऐसा माना जा सकता है कि कोई ऐसा नित्य 'मैं' नहीं है जो जीवन से मरणपर्य्यन्त चला जाता हो बरन चित्तवृत्तियों का स्वसाक्ष्य (अपने को जानना) धर्ममात्र है। प्रत्येक क्षण में कोई वृत्ति है, प्रत्येक वृत्ति में यह धर्म है, इसलिए 'मैं' 'मैं' का निर्बाध प्रवाह रहता है। यह बात जल में उठनेवाली तरंगों जैसी है। पानी में कार्क या किसी अन्य हलकी लकड़ी के छोटे-छोटे टुकड़े फैला दीजिए और फिर एक पत्थर फेंककर लहर उत्पन्न कीजिए। यदि जल बहे तो लकड़ी के टुकड़े भी उसके साथ बहें। पर ऐसा नहीं होता। प्रत्येक टुकड़ा ऊपर उठता है और नीचे जाता है फिर उसके पास के टुकड़े में, फिर उसके बाद के टुकड़े में, यों ही बराबर यह गति होती है। कोई टुकड़ा अर्थात् कोई जलविन्दु अपनी जगह से हटकर नहीं जाता परन्तु यह विशेष प्रकार की गति जहाँ पत्थर गिरा था वहाँ से बहुत दूर तक के जलविन्दुओं में पहुँच जाती है। हर विन्दु अपनी गति अपने पड़ोसी विन्दु को दे देता है और सब विन्दुओं की गतियों से लहर का आकार बन जाता है। ऐसा देख पड़ता है कि लहर एक सिरे से दूसरे सिरे तक जा रही है। यह हो सकता है कि उठती और नष्ट होती वृत्तियों से इसी प्रकार यह अहंभाव, मैं मैं, बन जाता हो जो जन्म से मरणपर्यन्त एक-सा जाता प्रतीत होता है।

लहरें तो जल में उठती हैं, जल के विन्दु हिलते हैं, ये वृत्तियाँ किसमें उठती हैं? यदि यह कहें कि अन्तःकरण में, तो अन्तःकरण क्या है? यदि यह माना जाय कि कोई नित्य साक्षी है तो उसका

स्वरूप कैसा है ? अन्त:करण के अतिरिक्त भी कोई और साक्षी, आत्मा है या नहीं ?

इनमें से कुछ प्रश्नों पर अगले अध्याय में थोड़ा-सा विचार होगा। परन्तु अब तक जो कुछ विचार हुआ है उससे यह तो स्पष्ट है कि हम जगत् के सम्बन्ध में जिस निश्चय के साथ बात करते हैं वह प्रमाणसिद्ध नहीं है। ऐसा जान पड़ता है कि जिन साधनों से हमको ज्ञान प्राप्त होता है वे न तो पूरा ज्ञान देते हैं, न यथार्थ ज्ञान देते हैं। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि हमारी अनुभूतियों के अनुरूप कुछ है भी या नहीं। सबसे बड़ी बात तो यह है कि जो इस जगत् का द्रष्टा-भोक्ता है, जो सब अनुभूतियों का साक्षी 'मैं' है, उसकी सत्ता भी निश्चय के साथ नहीं प्रतिपादित की जा सकती। इससे यह बात निकलती है कि जब तक पुष्ट प्रमाण न मिलें तब तक हम ऐसा नहीं कह सकते कि जो कुछ प्रतीत होता है वह सत्य है। अत: सत्य का अन्वेषण करना आवश्यक हो जाता है।

ईश्वर असिद्ध है

साधारणत: ऐसा नहीं कहा जाता कि हमको ईश्वर का साक्षात्कार होता है या उसकी प्रतीति होती है। ऐसी बात तो कोई योगी पुरुष ही कहता होगा। फिर भी लोगों को, बहुत-से लोगों को, ईश्वर पर दृढ़ विश्वास है। वे ऐसा समझते हैं कि ईश्वर हमारे भले-बुरे कामों को देखता है, वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक, अज, नित्य, जगत् का स्रष्टा, पालक और लयकर्त्ता है। वह जगत् से भिन्न है, अभिन्न है या भिन्नाभिन्न है, इसके विषय में बड़ा शास्त्रार्थ है पर उसकी सत्ता को अधिकांश लोग निर्विवाद मानते हैं।

ईश्वर की सत्ता का एक प्रमाण तो विभिन्न सम्प्रदायों की श्रुतियाँ हैं या महात्माओं की वाणियाँ हैं पर इस प्रकार के वाक्यों के लिए स्वयं प्रमाण चाहिए। यह कैसे माना जाय कि जिन वाक्यों में ईश्वर की सत्ता बतलाई गई है वह आप्तवाक्य हैं, अर्थात् ऐसे लोगों के वाक्य हैं जो यथार्थ ज्ञाता और यथार्थ वक्ता थे? किसी भी तर्क से यह पूर्णतया सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वेद या क़ुरान या बाइ-बिल आप्तवाक्य है।

दूसरा प्रमाण जो बहुत लोगों को ठीक जँचता है यह है कि जब जगत् एक कृति है तब उसका कोई कृतिकार भी होना ही चाहिए। जब घड़े के लिए स्रष्टारूप से कुम्हार होता है, पुत्र के लिए पिता होता है तब जगत् का भी कोई रचयिता होगा। इसके आधार में यह तर्क है कि कोई वस्तु स्वतः नहीं हो सकती। पर यदि यह बात ठीक है तो ईश्वर का भी कोई रचयिता होना चाहिए और उस बड़े ईश्वर के लिए एक और बड़ा ईश्वर होना चाहिए। यह तो अनन्त परम्परा होगी। यदि यह कहा जाय कि ईश्वर स्वयम्भू है तो फिर जगत् स्वयम्भू क्यों नहीं हो सकता? जगत् परिवर्तनशील है इसलिए वह स्वयम्भू नहीं हो सकता ऐसा क्यों माना जाय? जगत् के मूल में जो तत्त्व और नियम हैं वह स्वयम्भू होंगे, उसका दृश्यरूप तो इन्हीं मूल तत्त्वों और नियमों का विकार है। यदि ईश्वर माना जाय तो उसमें भी तो साक्षित्व, स्रष्टृत्व आदि विकार उठते रहते हैं पर इससे उसके स्वयम्भूत्व में कोई हानि नहीं मानी जाती।

यह भी समझा जाता है कि जगत् जिन अटल नियमों के अनु-सार चल रहा है उनके लिए एक नियामक की आवश्यकता प्रतीत

होती है। पर इसका उत्तर भी वही है जो ऊपर दिया गया है, ऐसा क्यों न माना जाय कि जगत् का स्वभाव ही नियमवर्तिता है। यदि ईश्वर का स्वभाव कर्मफलप्रदान, दयालुता, पतितपावनता आदि गुणों की राशि, बिना किसी बाहरी नियामक के अविकल रहता है तो जगत् के स्वभाव को ही क्यों बाहरी नियामक चाहिए ?

मैं यह नहीं कहता कि ईश्वर नहीं है पर यह दिखलाना चाहता हूँ कि ईश्वर की सत्ता को मानने के लिए सर्वसुलभ पुष्ट कारण नहीं है। यह ग्रंथि जगत् की बड़ी ग्रंथि का ही एक अंश है और इसका खोलना न खोलना भी दर्शन का ही काम है। यदि ईश्वर की पारमार्थिक सत्ता है तो वह व्यापक सत्य से परे की वस्तु नहीं है; उस सत्य का ही एक रूप या अंश है और इसलिए दर्शन का विषय है।

——

२

परम विज्ञान

पिछले अध्याय में तो प्रतीयमान जगत् के विषय में कुछ शंकायें उठाई गईं। इस अध्याय में हमको देखना है कि इसके सम्बन्ध में सत्य के वह अन्वेषक क्या कहते हैं जो दार्शनिक नहीं कहलाते।

सत्य की खोज वैज्ञानिक करता है। कोई भी सचेष्ट, गतिशील वस्तु हो, वह अपने टुकड़ों के योग से बड़ी होती है। अंकगणित का यह सिद्धान्त कि टुकड़ों का योग = कुल

यहाँ नहीं लगता। हाथ, पाँव, हड्डी, मांस, रक्त, मस्तिष्क, श्वास-प्रश्वास, मौन-प्रवृत्ति आदि को मिला देने से ही पूरा

मनुष्य नहीं बनता। मनुष्यता एक ऐसी चीज़ है जो अपने इन अंगों से बड़ी है और इन सबमें व्यापक है। उसी से इन सब टुकड़ों की सार्थकता है, उसी ने इन सबको एक सूत्र में बाँध रक्खा है। किसी चीज़ को पकड़ने की, किसी पर प्रहार करने की, किसी प्रहार से अपने को बचाने की, प्रवृत्ति अन्तःकरण में उठती है। ज्यों-ज्यों वय बढ़ता है, अन्तःकरण का विकास होता है और ये प्रवृत्तियाँ जो नवजात शिशु में अस्फुट रहती हैं प्रबल होती जाती हैं। साथ-ही साथ हाथ का, हाथ की अँगुलियों का, हाथ के ज्ञान और क्रिया-तन्तुओं का, उसकी शिराओं और धमनियों का, विकास होता है। जो प्रवृत्तियाँ अन्तःकरण में उठती हैं उनका साधन हाथ है। बिना अन्तःकरण का हाथ और बिना हाथ का अन्तःकरण, दोनों ही व्यर्थ होते हैं। मनुष्यता ही हाथ और अन्तःकरण में व्याप्त होकर दोनों को एक साथ और एक दूसरे के अनुकूल विकास देती है। अतः मनुष्य का ठीक-ठीक और पूरा-पूरा ज्ञान उसके टुकड़ों के ज्ञान से नहीं हो सकता। परन्तु विस्तृत अध्ययन के लिए टुकड़ों का पृथक् अध्ययन आवश्यक होता है। पेट की स्वतंत्र सत्ता नहीं है परन्तु, यह जानते हुए कि पेट शरीर का अंग है और उसका दूसरे अवयवों के साथ अन्योन्याश्रय संबंध है, उसका ब्योरेवार पृथक् अध्ययन करना बुरा नहीं है, बरन शरीर को समझने में सहायक हो सकता है। इसी प्रकार जगत् के विभिन्न अंशों को परस्पर सम्बद्ध मानते हुए उनका पृथक् अध्ययन उपयोगी है। यह पृथक् अध्ययन विज्ञान के विभागों में होता है।

इस प्रकार जो ज्ञान प्राप्त होगा वह आवश्यक और विस्तृत परन्तु

आंशिक होगा। यदि ऐसे समस्त ज्ञान का समन्वय हो सके तो हमको जगदन्तर्गत सत्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाय। यह ज्ञान सभी ज्ञानों से श्रेष्ठ होगा, अतः इसे परम विज्ञान कह सकते हैं। दार्शनिक कहता है कि उसके शास्त्र का विषय यही परम विज्ञान है।

विभाग तो अपनी सुविधा के अनुसार किया जाता है। हम किसी नगर के निवासियों को उनके सम्प्रदायों या जीविकाओं या व्ययों या आयों के अनुसार बाँट सकते हैं। किसी ने ठीक कहा है कि सड़क पर बैठकर जूतों की मरम्मत करनेवाले मोची के लिए मनुष्यों के एक भाग में फटे जूतेवाले हैं, दूसरे में और सब लोग हैं। जगत् और उसके दृग्विषयों को भी हम इसी प्रकार अपनी सुविधा के अनुसार विभक्त करते हैं, यद्यपि कोई भी विभाग दूसरे विभागों से पूर्णतया पृथक् नहीं किया जा सकता। फिर एक-एक विभाग से सम्बद्ध एक-एक विज्ञानशास्त्र होता है। शास्त्रों के विषयों में सम्बन्ध और अन्योन्याश्रय है, इसलिए शास्त्रों में भी सम्बन्ध और अन्योन्याश्रय है। एक ही दृग्विषय कई शास्त्रों में अन्तर्भूत होता है। उदीयमान सूर्य ज्योतिष, गणित, भौतिकविज्ञान और मनोविज्ञान का विषय है।

विज्ञानशास्त्रों में भौतिकविज्ञान, गणित, जीवविज्ञान और मनोविज्ञान मुख्य हैं। इन सबके विषय कठिन हैं। यहाँ हम बहुत संक्षेप में इनके निष्कर्ष-भूत सिद्धान्तों का दिग्दर्शन करेंगे। इसके साथ ही थोड़ा-सा विचार योगशास्त्र के विषय में भी करना उचित प्रतीत होता है, यद्यपि यूरोप को अभी इस विज्ञान का परिचय नहीं है। न्यायशास्त्र की भी थोड़ी-सी चर्चा करना आवश्यक है।

भौतिकविज्ञान और गणित

हमारे चारों ओर करोड़ों भौतिक वस्तुएँ देख पड़ती हैं। पानी, हवा, पत्थर, घर, पेड़, कुर्सी, हमारे शरीर, ग्रह, नक्षत्र, पुस्तकें—ये सभी भौतिक हैं। भौतिक पदार्थ की सरल पहचान यह है कि उसका कुछ आयतन हो, अर्थात् वह दिक् में कुछ जगह ले। कोई भौतिक पदार्थ ठोस है, कोई तरल, कोई वाष्पीय। एक ही पदार्थ गरम करने से द्रव हो जाता है, ठंडक पहुँचाने से ठोस हो जाता है। ऐसी वस्तुएँ तो असंख्य हैं परन्तु रसायनशास्त्र के विद्वान् इनको दो विभागों में बाँटते हैं। पहले में नब्बे के लगभग पदार्थ हैं जिनको तत्त्व कहते हैं। दूसरे में शेष सब हैं। तत्त्व वे पदार्थ हैं जो किसी भी रासायनिक क्रिया से अपने स्वरूप और धर्म्मों का परित्याग नहीं करते। सोना, चाँदी, लोहा, गंधक, पारा तत्त्व हैं। इनको गरम या ठंडा करके ठोस, तरल या वाष्पीय बना सकते हैं पर इनमें से कोई दूसरा पदार्थ नहीं निकल सकता। लोहा लोहा ही रहेगा, गन्धक गन्धक ही रहेगा। तत्त्वों का जो सबसे छोटा टुकड़ा हो सकता है उसे परमाणु कहते हैं। जो पदार्थ तत्त्वों में परिगणित नहीं हैं उनको मिश्र कहते हैं क्योंकि वे दो या अधिक तत्त्वों के मेल से बनते हैं। मिश्र के सबसे छोटे टुकड़े को अणु कहते हैं। पानी मिश्र है। उसके एक अणु में दो परमाणु हाइड्रोजन और एक ऑक्सिजन का होता है। चूने के एक अणु में से एक परमाणु कैल्शियम और एक ऑक्सिजन का निकलता है। तूतिया के एक अणु में एक परमाणु ताँबे का, एक गन्धक का और चार ऑक्सिजन के होते हैं। चूना और तूतिया मिश्र हैं।

रसायनशास्त्र की पहुँच तो यहीं तक है। उसने भौतिक वस्तुओं के नानात्व के भीतर इन तत्त्वों को ढूँढ़ निकाला है। पृथिवी पर ही नहीं, दिगन्त में स्थित तारों में भी यही तत्त्व पाये जाते हैं। परमाणु का आयतन बहुत छोटा होता है। वह आँख से देख नहीं पड़ता। हाइड्रोजन के एक परमाणु का व्यास ·००००००१२७ इंच होता है पर इन्हीं परमाणुओं के योग और रासायनिक मिश्रण से यह विशाल भौतिक जगत् बना है।

बहुत दिनों तक वैज्ञानिक जगत् का यह विश्वास था कि तत्त्व ही भौतिक जगत् के अन्तिम सत्य हैं क्योंकि कोई रासायनिक क्रिया तत्त्व के परमाणुओं को तोड़ नहीं सकती। परन्तु दूसरे प्रकार के प्रयोगों के द्वारा परमाणु भी तोड़ा गया है। इस विश्लेषण से विचित्र बातें ज्ञान की परिधि में आई हैं। परमाणु एक प्रकार का सौरजगत्-सा है। बीच में एक केन्द्र होता है, उसके चारों ओर एक या एक से अधिक कण घूमते रहते हैं। हाइड्रोजन के परमाणु में केन्द्र पर एक कण और परिधि पर एक कण होता है। दोनों के बीच में कितनी खाली जगह रहती है उसका अनुमान इसी से हो सकता है कि बाहरी कण का व्यास पूरे परमाणु के व्यास का $\frac{१}{५०,०००}$ के लगभग होता है।

कण का क्या अर्थ है? परमाणु के केन्द्र पर स्थित और केन्द्र के चारों ओर घूमनेवाली वस्तु भौतिक होती है। वह दिक् में कुछ जगह रोकती है और तौली जा सकती है। इसलिए उसको भूतकण मान सकते हैं। पर यह भी देखा गया है कि प्रत्येक कण में विद्युत्-शक्ति भरी हुई है। केन्द्रस्थ कण पर धन-शक्ति और परिधिस्थ कण

पर ऋणशक्ति होती है और दोनों की मात्रा बराबर होती है, इसी से पूरे परमाणु में विद्युत् की अनुभूति नहीं होती, क्योंकि + − = ० हो जाता है।

हाइड्रोजन में तो दो ही कण होते हैं परन्तु दूसरे तत्त्वों में इनकी संख्या अधिक होती है। परिधि पर कई ऋण विद्युन्मय कण होते हैं और केन्द्र पर बहुधा धन और ऋण विद्युन्मय कणों का गुच्छा होता है जिनमें धन-विद्युत् का योगफल अधिक होता है और बाहरी कण के ऋण-विद्युत् के बराबर होता है।

पर इतने से ही विलक्षणता का अवसान नहीं होता। सूक्ष्म प्रयोगों से अब यह बात स्पष्ट हो गई है कि इन कणों के विषय में यह कहना ठीक नहीं है कि ये ऐसे भौतिक कण हैं जिनमें बिजली भरी हुई है। सच बात यह है कि ये शुद्ध विद्युत् हैं। ऋण-विद्युत् और धन-विद्युत् की पृथक् मात्रायें भौतिक कणों जैसा व्यवहार कर रही हैं। अभी तक हम ऐसा समझते थे कि बिजली को कोई भौतिक आधार चाहिए; अब यह प्रतीत होता है कि भौतिक तत्त्व (और उनसे बना भौतिक जगत्) शुद्ध विद्युत् से बने हैं।

दो तत्त्वों का भेद इसी बात पर निर्भर करता है कि उनके केन्द्र में कितने और किस प्रकार के विद्युत्कण हैं और उनके चारों ओर कितने विद्युत्कण कितनी दूरी पर और कितने वेग से घूम रहे हैं। यदि किसी तत्त्व में विद्युत्कणों की संख्या या विद्युत् की मात्रा घटाई-बढ़ाई जा सके तो नये प्रकार के तत्त्व की सृष्टि होगी। यदि एक धन-विद्युत्कण के चारों ओर उसकी बराबर मात्रा का ऋण-विद्युत्कण नियत गति से घुमाया जा सके तो विद्युत् से भौतिक तत्त्व की सृष्टि

होगी। यदि किसी प्रकार किसी तत्त्व के परमाणु का बाहरी कण उसके केन्द्रस्थ कण से आ मिले तो प्रचण्ड विस्फोट और तेज प्रकाश के साथ भौतिक तत्त्व का विनाश हो जायगा और प्रबल शक्ति जो भौतिक रूप में बँधी हुई है उन्मुक्त हो जायगी। एक परमाणु के इस प्रकार नष्ट होने से जितनी शक्ति एक क्षण में मिल सकती है उतनी मनों कोयलों को जलाने से भी नहीं मिल सकती। कई वैज्ञानिक इस खोज में हैं कि परमाणुओं को प्रयोगशाला में तोड़ने का कोई सस्ता उपाय हाथ लग जाय।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति में तत्त्वों का निर्माण या विनाश या दोनों ही क्रियायें हो रही हैं। कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि आज से कई अरब वर्ष पहले से यह जगत् भौतिक दृष्ट्या विनष्ट हो रहा है। सूर्य्यादि पिण्डों के परमाणु बराबर टूट रहे हैं और उनसे जो शक्ति विमुक्त हो रही है वह सारे विश्व में बिखर रही है। यह बिखरी शक्ति किसी काम में नहीं आ सकती। यदि यही क्रम रहा तो जिस प्रकार बिना चाभी की घड़ी धीरे-धीरे बन्द हो जाती है उसी प्रकार परमाणुओं के टूटते-टूटते कई अरब वर्षों में केवल एक रस-शक्ति रह जायगी और जगत् निर्व्यापार, मृत हो जायगा। दूसरा मत यह है कि अब भी सरल तत्त्वों से गुरु तत्त्व बन रहे हैं अर्थात् शक्ति की अधिकाधिक मात्रायें उपयोग में आ रही हैं, जगत् की सजीवता बढ़ती जा रही है।

अनुशीलन की गति यहीं नहीं रुकी। और भी कई अद्भुत बातें ज्ञान-क्षेत्र में आईं। तत्त्वों में से एक का नाम रेडियम है। यह अभी तो बहुत कम मिलता है। इसका एक गुण यह है कि अँधेरे

में भी चमकता है। बात यह देखी गई कि कभी-कभी रेडियम का परमाणु आपसे आप टूटता है। इसके परमाणुओं में से लगभग १,३०० वर्षों में आधे टूटते हैं। वह कौन-सी शक्ति है जो मृत्यु बनकर इन परमाणुओं को चुनती है, इन परमाणुओं में ऐसी क्या बात आ जाती है कि वे इस अदृष्ट का शिकार बन जाते हैं, यह अभी ज्ञात नहीं है। पर होता यह है कि जब रेडियम का परमाणु टूटता है तब उसमें से सीसा निकलता है। रेडियम की भाँति सीसा ठोस धातु है। दोनों तत्त्व हैं। इसका अर्थ यह है कि अवस्थाविशेष में एक तत्त्व से दूसरा तत्त्व बनता है। अभी हमारा ज्ञान अपूर्ण है। कोई आश्चर्य्य की बात न होगी यदि निकट भविष्य में हम प्रकृति में ही नहीं, अपनी प्रयोगशालाओं में दूसरे तत्त्वों को भी इसी प्रकार बनते देखें।

इस अनुसन्धान से एक रोचक विचारधारा निकलती है। आज जहाँ ९२ तत्त्व हैं, वहाँ कभी एक तत्त्व रहा होगा। वह क्या था, उसके धर्म्म क्या-क्या थे, यह नहीं कह सकते। सम्भवत: इसका भी निश्चय हो जायगा। यह पदार्थ मूलतत्त्व हुआ। हम बचपन से ऐसी कहानियाँ सुनते आते हैं कि अमुक बाबा जी रसायन जानते थे, वे दूसरी धातुओं से सोना बना देते थे। कभी-कभी समाचारपत्रों में छपता है कि सोना बनाने का लालच दिखलाकर किसी धूर्त ने अमुक व्यक्ति को ठग लिया। ये सोना बनाने के दावे झूठे हैं। इन लोगों को न रसायनशास्त्र का इतना ज्ञान है, न इनके पास वैसी सामग्री हैं। पर यदि ऐसा होता भी हो तो भी कितनी क्षुद्र-सी चीज़ है। एक सोना बनने में क्या रक्खा है ? आज विज्ञान संकेत करता

है कि सभी तत्त्वों की, जिनमें से सोना भी एक है, उत्पत्ति किसी एक तत्त्व से हुई है और एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व में परिवर्तन होना असम्भव नहीं है।

हम भौतिक पदार्थों को सदैव एक ही अवस्था में नहीं पाते। वही वस्तु जो अभी एक जगह है कुछ समय के बाद स्थानान्तर में होगी। यह तो प्रत्यक्ष हुआ। हम इस बात को यों समझाते हैं कि उसको कोई बाहरी धक्का, पारिभाषिक शब्दों में नोदन, लगा और यह धक्के की शक्ति गति के रूप में परिणत हो गई। शक्ति का प्रत्यक्ष नहीं होता, हम उसका अनुमान करते हैं। शक्ति के अनेक रूप हैं। वह कभी रासायनिक शक्ति, कभी गरमी, कभी प्रकाश, कभी विद्युत् के रूप में प्रकट होती है। एक प्रकार की शक्ति दूसरे प्रकार में परिणत होती रहती है। हम जो भोजन करते हैं वह स्वयं कई शक्तिपरिणामों का अन्तिम फल है। जब वह पचता है तब उसमें से रासायनिक शक्तियाँ उन्मुक्त होती हैं। ये ही रासायनिक शक्तियाँ हमारे शरीर की उष्णता तथा पेशियों के बल, रक्त की प्रवाह-शक्ति आदि में परिणत होती हैं। आज से लाखों वर्ष पहले बड़े-बड़े जंगल खड़े थे। उनके पेड़ों के भीतर सौर उष्णता की सहायता से रासायनिक क्रियायें होती रहती थीं। वे जंगल भूगर्भ में चले गये और वह शक्ति, जो उनमें काम कर रही थी, उनके भीतर क़ैद-सी हो गई। आज वे ही पेड़ हमको पत्थर के कोयले के रूप में खानों से मिलते हैं। उनके भीतर की शक्ति चलन-शक्ति बनकर रेल के एञ्जिनों को दौड़ाती है, उष्णता बनकर हमको गरमी देती है और चूल्हे पर चढ़े हुए भोजन को पकाती है। चलती गाड़ी की चलनशक्ति पटरियों

को गरम करती है। ऊँचे पर जमे नदी के पानी में जो आकर्षण-शक्ति रहती है उससे चलनशक्ति के रूप में बदलकर पनचक्की तो पहले भी चलवाई जाती थी पर आज तो उसे विद्युत्-शक्ति में बदल देते हैं और फिर सैकड़ों कोस दूर बसे हुए नगरों में प्रकाश तथा छोटे पंखे से लेकर बड़े-बड़े कारखानों की मशीनों की चालक-शक्ति में परिणत करते हैं।

इन सब बातों का तात्पर्य्य यह है कि शक्ति एक है, वह अनेक रूप धारण करती रहती है। उसके अब तक के ज्ञात रूपों में सबसे सूक्ष्म विद्युत् है। जितनी विभिन्न प्रकार की क्रियायें इस जगत् में हो रही हैं वे सब एक ही शक्ति की लीला हैं।

इससे यह बात निकलती है कि भौतिक जगत् की जड़ में स्यात् दो पदार्थ होंगे; एक तो कोई मूलतत्त्व और दूसरा मूलशक्ति, जो सम्भवतः विद्युत्-स्वरूपा होगी। परन्तु विज्ञान इसके भी आगे जाना चाहता है। यह भौतिकविज्ञान की पुस्तक नहीं है अतः ये बातें ब्योरे के साथ नहीं दी जा सकतीं परन्तु हम यह देख चुके हैं कि परमाणु के अंशभूत जिन विद्युन्मय भूतलवों की प्रतीति होती है वे वस्तुतः विद्यत् से अभिन्न हैं। यों कह सकते हैं कि विशेष अवस्थाओं में विद्युत्-शक्ति जो बिखरी हुई है केन्द्रीभूत हो जाती है और केन्द्रित विद्युत् से हमको भूतलव की प्रतीति होती है। भूतलव वस्तुतः विद्यु-ल्लव या विद्युत्कण है।

इसका तात्पर्य्य यह है कि जगत् का मूल एक पदार्थ, शक्ति है। वही विशेष अवस्थाओं में घनीभूत होकर तत्त्वों के रूप में, और फिर तत्त्वों से मिश्रों के रूप में परिणत हो गई है। दूसरी ओर से

वह अनेक शक्तिरूपों को धारण करके तत्त्वों और मिश्रों में गति उत्पन्न करती है। अतः यह समस्त भौतिकजगत् एक ही पदार्थ का विकार है। वही पदार्थ सत्य है।

हमने पहले अध्याय में देखा कि प्रकाश, उष्णता, विद्युत्-तरंगों के रूप में चलते हैं। इन तरंगों के वेगादि के सम्बन्ध में बहुत-सी ज्ञातव्य बातें जान ली गई हैं। यदि हम दो वस्तुओं के बीच की दूरी जानते हों तो यह बतलाया जा सकता है कि एक से दूसरी तक पहुँचने में विद्युत् या प्रकाश या चुम्बक-शक्ति या उष्णता को कितना समय लगेगा। शक्ति के इन चार रूपों का इसलिए नाम लिया जा रहा है कि मुख्यतः ये ही चारों वहाँ भी काम करते हैं जहाँ दूरी बहुत होती है और कोई भौतिक संयोग नहीं होता। जैसे, शब्द की लहरें वायु या जल या किसी अन्य भौतिक पदार्थ में ही चल सकती हैं परन्तु पृथिवी और चन्द्र-सूर्य्य के बीच में या तारों के बीच में ऐसा कोई भौतिक पदार्थ नहीं है। परन्तु प्रकाशादि की किरणें वहाँ भी चलती हैं। अब, लहर के लिए कोई माध्यम चाहिए। समुद्र की लहर पानी में उठती है, शब्द की लहरें हवा में चलती हैं। यह प्रकाशादि की लहरें किस चीज़ में चलती हैं? वह क्या पदार्थ है जिसके तरङ्गित होने से हमको किसी दूरस्थ तारे का प्रकाश मिलता है? पहले कहा जाता था कि जहाँ कुछ नहीं है वहाँ आकाश है। आकाश एक प्रकार का सूक्ष्म भौतिक पदार्थ माना जाता था। उसमें दूसरे भौतिक द्रव्यों के कई गुणों का अभाव था—बस एक यही धर्म्म था कि प्रकाशादि की तरंगें उसमें से जाती थीं। सारा दिक् उससे व्याप्त माना जाता था। पर आजकल विज्ञान ऐसा नहीं मानता। आकाश की सत्ता काल्पनिक

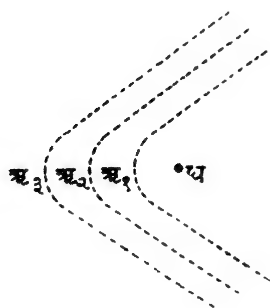
है। दिक् शून्य है। उसमें कुछ नहीं है। दिक् में जहाँ ग्रह, नक्षत्र जैसे पिण्ड नहीं हैं वहाँ ख़ाली पड़ा है। तो फिर यह प्रकाशादि की लहरें कैसे चलती हैं? विज्ञान का कहना है कि लहरें इसी शून्य में चलती हैं। कोई माध्यम नहीं है, कोई पदार्थ नहीं है जिसमें तरंगें उठें फिर भी प्रकाश या विद्युत् एक वस्तु से दूसरी वस्तु तक पहुँचता है और इस तरह चलकर पहुँचता है जैसे तरंगें चलती हैं। यह बात बड़ी ही विलक्षण प्रतीत होती है पर विज्ञान को इसी परिणाम पर आना पड़ा है।

आज भी यह नहीं कहा जा सकता कि हमको विद्युत् के स्वरूप का पूरा-पूरा ज्ञान हो गया है। विद्युत् की गति लहरों जैसी तो होती ही है पर कुछ बातों में उसका व्यवहार ऐसा होता है जैसे कि भौतिक पदार्थों की भाँति विद्युत् के भी परमाणु होते हैं। एक नियत मात्रा से कम विद्युत् किसी प्रयोग या भौतिक दृग्विषय में अनुभूत नहीं होती। जिस प्रकार रासायनिक तत्त्वों के परमाणु अच्छेद्य हैं वैसे ही विद्युत् की यह मात्रा अच्छेद्य है। जिस प्रकार दो या तीन या चार परमाणु मिल सकते हैं परन्तु सवा या ढाई या पौने चार नहीं मिल सकते उसी प्रकार विद्युत् भी दो या तीन या इसी प्रकार की नियत संख्यक मात्राओं में ही पाई जा सकती है। विद्युत् के ये कण दिक् में जगह घेरते हैं, भौतिक पदार्थों के आकर्षण-क्षेत्र में आने से आकृष्ट होते हैं, भौतिक पदार्थों पर इनके आघात का प्रभाव पड़ता है। अब विद्युत् को क्या कहें, कण या लहर या उभयात्मक?

यह विचित्रता विद्युत् में ही नहीं, उन कणों में भी पाई जाती है जो तत्त्व परमाणुओं के अंग होते हैं। यों तो जब ये कण विद्युन्मय

हैं तब इनमें विद्युत् की विशेषतायें पाई जानी ही चाहिए परन्तु इनका प्रत्यक्ष व्यवहार भी इस बात को पुष्ट करता है।

जब ऋण-विद्युत्कण धनकण के चारों ओर घूमता है तब एक दिन ऐसा भी आना चाहिए जब कि वह घूमते-घूमते उसमें जा मिले। ज्यों-ज्यों वह घूमता है उसमें से शक्ति निकलती रहती है, इसी ह्रास का यह परिणाम होना चाहिए कि उसके घूमने की गति कम होती जाय और अन्त में शून्य हो जाय। उसी क्षण वह केन्द्र पर जा गिरेगा। इस प्रकार परमाणुओं का और परमाणुओं से निर्मित भौतिक जगत् का विनाश हो जाना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं, कम से कम अब तक हुआ नहीं है। इसका कारण बताने के लिए इस प्रकार की कल्पना की गई कि ऋणकण धनकण से जितनी दूरी पर घूमता है वह बदला करती है। नीचे सरलता के लिए एक ऐसे परमाणु का चित्र दिया गया है जिसमें एक ही धन और एक ही ऋणकण है।



ध धनकण और ऋ ऋणकण है। कभी वह एक विन्दु-रेखा पर चलता है, कभी दूसरी पर। इन रेखाओं के अनुसार उसको ऋ१, ऋ२, ऋ३ दिखलाया गया है। कल्पित सिद्धान्त यह था कि ये

मार्ग निश्चित हैं। कण इन पर चल सकता है पर इनके बीच में नहीं। अभी $अ_3$ पर है, वहाँ एकाएक अन्तर्द्धान होकर $अ_2$ पर आ जायगा, इस मार्ग पर चलते-चलते एकाएक अन्तर्द्धान होकर उससे भीतरवाले मार्ग पर आ जायगा। बिना बीच की दूरी को पार किये एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँच जाने से हमने अन्तर्द्धान शब्द का प्रयोग किया है। जब ये मार्ग निश्चित हैं और ऋणकण इनको छोड़ ही नहीं सकता तब वह कभी ध पर पहुँच ही नहीं सकता अत: तत्त्व का विनाश हो ही नहीं सकता। जब तक वह किसी मार्ग पर चलता रहता है तब तक उसमें से शक्ति नहीं निकलती। जिस समय वह अन्तर्द्धान रहता है, उसी समय शक्ति बाहर जाती है। इसलिए शक्ति का छीजन निरन्तर नहीं होता और वह शून्य तक नहीं पहुँच पाती। परन्तु अब यह कल्पना भी पर्याप्त नहीं रही। कई प्रयोगों में यह देखा गया है कि यह धनकण ठीक वैसा ही व्यवहार करता है जैसा कि विद्युत् की लहर करती है।

ये बातें कहने में कठिन हैं और समझने में और भी कठिन हैं। साधारणत: जब हम यह कहते हैं कि हम अमुक वस्तु के स्वरूप को समझ गये तब इसका तात्पर्य यह होता है कि हम उसका किसी प्रकार का मानस चित्र बना सकते हैं परन्तु विद्युत् और परमाणु का तो कोई चित्र बनता ही नहीं।* जो वस्तु दिक् और काल में रहती है

---

* एक मत तो यह है कि ऋणविद्युत् का एक विभु समुद्र है जिसमें बीच-बीच में रिक्त स्थान, छिद्र या बिल हैं। ये छिद्र ही धन-विद्युत्कण से प्रतीत होते हैं और अपने चारों ओर के ऋणविद्युत् के साथ मिलकर परमाणु का स्वरूप धारण करते हैं।

और अन्तर्द्धान होती हुई भी प्रतीत होती है अर्थात् दिक्काल के बाहर चली जाती-सी प्रतीत होती है। जिसमें अटूट प्रवाह भी हैं और निश्चित परिमाण के पृथक् टुकड़े भी हैं, जो तोली जा सकती है और छिद्रमात्र प्रतीत होती है, उसका स्वरूप कैसा है ? लहर है तो किसमें उठती है, कहाँ और कैसे चलती है ? एक ही समय में कण और लहर, दोनों स्वभाव कैसे सम्भव हैं ?

कुछ विद्वानों का यह मत है कि प्रवाह है सही पर किसी भौतिक पदार्थ का नहीं, किसी ऐसी शक्ति का नहीं जिसका अनुशीलन भौतिक विज्ञान कर सकता हो, घटनायें घटित होती हों या न होती हों, उनके घटित होने की सम्भावना ध्रुव सत्य है। इस अनाद्यनन्त सम्भावना-सागर में जगद्रूपी ऊर्मियाँ उठती रहती हैं और उसी में विलीन होती रहती हैं। जगत् के मूल में लहरें, सम्भावना की लहरें हैं। इन लहरों का प्रत्येक वह अंश जो किसी क्षणविशेष में हमारे अनुभव का विषय होता है, एक घटना, एक स्थूलीभूत कण है। यह स्मरण रहे कि हम और हमारा अनुभव भी सम्भावना-सागर की तरंगमात्र है। यह वाक्य कुछ अर्थ तो रखते ही हैं परन्तु क्या सम्भावना, सम्भावना की तरङ्ग, स्थूलीभूत सम्भावना आदि का अस्तित्व द्रष्टा की बुद्धि के बाहर हो सकता है ? कम से कम इतना तो निश्चित ही है कि इनकी चर्चा करते समय हम शुद्ध भौतिक विज्ञान के क्षेत्र के बाहर निकल आते हैं।

विज्ञान विलक्षणताओं के कीर्तन के साथ-साथ यह भी कहता है कि यह जगत् हमारे लिए वस्तुतः अविज्ञेय है। इसका रहस्य तभी समझ में आ सकता है जब हम परमाणुओं के अङ्गभूत विद्युत्कणों

या दूसरे प्रकार से प्राप्त विद्युत् की अल्पतम मात्राओं की गतिविधि का अनुशीलन न करें। परन्तु अनुशीलन करने में यंत्रों का प्रयोग करना पड़ता है, प्रकाश या विद्युत् या गर्मी का थोड़ा-बहुत प्रयोग करना पड़ता है। इस प्रयोग का यह परिणाम होता है कि यथार्थ अनुशीलन नहीं हो पाता। प्रकाश या बिजली की पतली से पतली रेखा, छोटी-से छोटी मात्रा हो, उसके पास आते ही विद्युत्कण की गति में अन्तर पड़ जाता है, अतः हमारे अनुशीलन में उसकी शुद्ध, स्वाभाविक अवस्था आती ही नहीं; उसको समझने के प्रयत्न में हम उसको बदल देते हैं। अतः यंत्रों से एतद्विषयक समस्याओं का ठीक-ठीक उत्तर मिलना असम्भव है।

हमने भौतिकविज्ञान और गणित को एक साथ इसलिए लिया है कि दोनों में बहुत सम्बन्ध है। भौतिकविज्ञान की उच्चतम भूमिकायें गणित की ऊँची भूमिकाओं से अभिन्न हैं।

गणित तर्कशास्त्र का एक भेद है। उसे तर्कशास्त्र का व्यावहारिक रूप कह सकते हैं। जिस प्रकार तर्कशास्त्र में कोई बात अहेतुक नहीं होती उसी प्रकार गणित में कोई बात अहेतुक नहीं हो सकती। प्रत्येक 'इसलिए' के पहले 'क्योंकि' होना ही चाहिए। यदि हमने हेतु ठीक दिया है तो हमको दृढ़ विश्वास रहता है कि निगमन अर्थात् तर्क का परिणाम अवश्य ठीक होगा। मैं कभी कश्मीर-राज्य के मार्तण्डस्थान पर नहीं गया पर यह सुन रक्खा है कि वहाँ एक सूर्यमन्दिर है जिसमें कई पण्डे रहते हैं। मैंने उनमें से किसी को न देखा है, न स्यात् देखूँगा। पर यदि यह बात ठीक है कि वह मनुष्य है और मनुष्यत्व के साथ मरणशीलता का नित्य

सम्बन्ध है तो यह बात निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि उनमें से प्रत्येक पराडा अवश्य मरेगा। इसी प्रकार मैं कभी रोहिणी तारे पर नहीं गया, न जाने की कोई सम्भावना है परन्तु यदि वहाँ कोई त्रिभुज खींचा जाय तो यहाँ से बैठे-बैठे निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि उसके तीनों कोणों का जोड़ १८०° के बराबर होगा।

गणित के दो मुख्य भेद हैं—अङ्कगणित और रेखागणित। अङ्कगणित को कालविज्ञान कह सकते हैं और रेखागणित को दिग्विज्ञान। अङ्कगणित में यदि शून्य को बीच में लिखकर एक ओर धन और दूसरी ओर ऋण-संख्यायें लिखें तो अतीत वर्तमान अनागत का चित्र बन जायगा—

(अनन्त) ०० ....–३, –२, –१–, ०, १, २, ३ ....०० अनन्त

दोनों ओर की सरल रेखाओं के हम अपनी सुविधाओं के अनुसार विभाग करते हैं। इसी प्रकार दिक् में विन्दु, रेखा, त्रिकोण, चतुष्कोण आदि बनाते हैं और इनके गुणों का अध्ययन करते हैं। गणित के अन्य सब विभाग, जैसे बीजगणित, त्रिकोणमिति या चलन कलन, अङ्कगणित और रेखागणित के ही भेद या मिश्रित रूप हैं। गणित के सिद्धान्त अमिट, ध्रुवसत्य माने जाते हैं। लोगों को ऐसा विश्वास है कि सूर्य्य चाहे पूर्व से पश्चिम में निकल आये परन्तु इस जगत् में कहीं और कभी भी दो और दो मिलकर चार के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता; कहीं और कभी भी कोई भी गोल वस्तु ली जाय, यदि उसका व्यासार्द्ध व है तो उसका आयतन

$\frac{४}{३} \pi$ व ^{३} होगा ($\pi = ३\cdot१४१५९$)

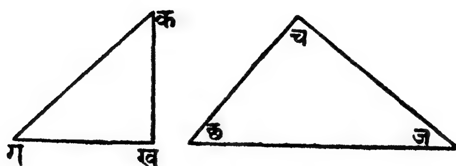
गणित की सचाई के भरोसे ही ज्योतिषी लाखों-करोड़ों कोस दूर

के नक्षत्रों के सम्बन्ध में गणना करता है और भविष्यद्वाणी करता है कि अमुक दिन अमुक तारा इतने बजे उदय होगा, अमुक ग्रह आकाश के अमुक भाग में अमुक स्थान पर देख पड़ेगा, अमुक समय पर सूर्य्य का सर्वग्रास होगा। यदि कोई पक्का, निर्विवाद विज्ञान है तो गणित है।

ग्रहण का हिसाब लगाना या यह बता देना कि आज से इतने वर्ष बाद अमुक दिन इतने समय पर अमुक ग्रह कहाँ होगा हमारे लिए कठिन बातें हैं पर आज गणित के विद्वानों के सामने इनसे कहीं कठिन समस्यायें हैं। उनसे जगत् के स्वरूप के प्रश्न पर प्रकाश डालने की आशा की जाती है। भौतिकविज्ञान के रहस्यों की कुञ्जी गणित में छिपी है, ऐसा विज्ञान के पण्डितों का दृढ़ विश्वास है।

गणितज्ञ इस सम्बन्ध में क्या कहते हैं उसको समझना और फिर सुबोध भाषा में समझाना सरल काम नहीं है। फिर भी हम कुछ मुख्य बातों का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न करेंगे।

हमने लड़कपन में रेखागणित पढ़ा। किसी को उसमें रस आया, किसी को नहीं परन्तु परीक्षा का विषय था, पढ़ना ही पड़ा। जो पढ़ाया गया था, उसमें से बहुत-सा भूल गया पर कुछ मुख्य बातें तो अब तक सबको याद होंगी। कम से कम इतना तो सबको ही विश्वास है कि रेखागणित की प्रतिज्ञायें सच्ची हैं—इञ्जीनियरी और ज्योतिष इन्हीं के आधार पर खड़े हैं। इस शास्त्र के आचार्य्यों में यूनानी पण्डित यूक्लिड की बड़ी ख्याति है, इसलिए इसको कभी-कभी यूक्लिडीय रेखागणित भी कहते हैं। जो प्रतिज्ञायें अभी हमको नहीं भूली हैं उनमें से दो को आगे के चित्र में देखिए।

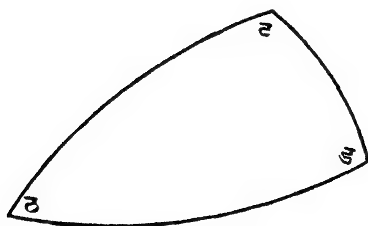


क ख ग एक त्रिभुज है जिसका कोण ख लम्ब कोण है। इस अवस्था में क ग ^{२} = क ख ^{२} + ख ग ^{२}।

इसी प्रकार च छ ज एक त्रिभुज है। इसके कोण पृथक्-पृथक् चाहे जितने छोटे-बड़े हों परन्तु

च + छ + ज = दो लम्ब कोण = १८०°

इन बातों की परीक्षा एक काग़ज़ के टुकड़े पर त्रिभुज खींचकर हो सकती है। पर यदि उस काग़ज़ को मोड़कर गोली बना ली जाय, तो उस पर इस प्रकार का त्रिभुज बनेगा ही नहीं। सरल रेखा की जगह चाप बन जायगा और त्रिभुज की सूरत कुछ कुछ ऐसी हो जायगी —



इस चाप त्रिभुज के तीनों कोणों का जोड़ १८०° नहीं होगा।

हमारी पृथ्वी गोल है, इसलिए पृथ्वी पर सरल रेखा नहीं खिंच सकती, न त्रिभुज, चतुष्कोण आदि खींचे जा सकते हैं। यह ठीक है

कि हम ऐसे आकार खींचते हैं, घर बनाने में इनसे काम लेते हैं और भी कई प्रकार की गणनाओं में इनका उपयोग करते हैं और गणनायें ठीक निकलती हैं। इसका कारण यह है कि बहुत बड़ी गोल रेखा का छोटा टुकड़ा सरल रेखा-सा जान पड़ता है और बहुत बड़े गोले का छोटा-सा टुकड़ा प्राय: समतल प्रतीत होता है। परन्तु किसी भी नक़शे को लीजिए, दो स्थानों को मिलानेवाली अक्षांश और देशान्तर रेखायें वलयाकार होती हैं। एक ग्लोब सामने रखकर देखिए कि उत्तरी ध्रुव, दक्षिणी ध्रुव और कलकत्ते को मिलाकर कैसा त्रिभुज बनता है। बस अन्तर यह है कि इतनी बड़ी दूरियों को लेने से सरल और वक्र रेखा का भेद स्पष्ट हो जाता है, पास-पास के विन्दुओं में छिप जाता है।

इसका तात्पर्य्य यह निकला कि पृथ्वी पर तो रेखागणित के सिद्धान्त नहीं घटते। परन्तु पृथ्वी या सूर्य्य आदि दूसरे गोल पिण्डों के बाहर विस्तृत दिक् में तो कोई ऐसी बाधा नहीं है। आज गणित कहता है कि यह बात भी नहीं है। दिक् स्वयं गेंद जैसा है। इसी लिए कहते हैं कि यह विश्व नि:सीम है पर अनन्त नहीं है। किसी गेंद को लीजिए। उसमें कोई ऐसा विन्दु नहीं है जहाँ से गेंद का आरम्भ माना जा सके। गेंद की चहारदीवारी, सीमा नहीं है, पर उसका आयतन निश्चित है। किसी जगह से चलिए और उसी दिशा में बराबर बिना मुँह फेरे चले जाइए, कुछ समय के बाद लौटकर अपने पूर्व स्थान पर आ जाइएगा। इसी प्रकार गणित के विद्वान् कहते हैं कि दिक् चारों ओर समतल जैसा फैला नहीं है कि उसमें किसी ओर जाने से बिना मुँह फेरे लौटना नहीं हो सकता। वह गेंद

की भाँति है। ऐसे विश्व में रेखागणित के सिद्धान्त कैसे ठीक उतर सकते हैं? इन विद्वानों के अनुसार हमारा विश्व यूक्लिडीय विश्व नहीं है। यूक्लिडीव रेखागणित इस आधार पर निश्चित हुआ है कि विश्व का ओर-छोर नहीं है, वह अनन्त से अनन्त तक फैला हुआ है। सम्भव है, कोई और जगत् ऐसा हो, पर इस हमारे जगत् में तो यह सिद्धान्त कल्पनाप्राय है। विश्व के छोटे टुकड़ों को लेने से उनकी सदोषता का पता नहीं चलता, परन्तु समूचे विश्व को देखने से, ऐसे प्रयोगों को करने से जिनमें करोड़ों कोसों का काम पड़ता हो, जैसा कि तारों से आनेवाले प्रकाश के विषय में होता है, यह नियम काम नहीं देते। ऐसे गम्भीर अनुशीलन के लिए अयूक्लिडीय रेखागणित की रचना करनी पड़ी है। एक उदाहरण लीजिए। मान लीजिए कि क और ख दो मोटरें हैं। क का वेग प्रतिघंटा २० कोस और ख का ३० कोस है। वे जिन दिशाओं में चल रही हैं वह तीरों से दिखलाई गई हैं—



पहले चित्र में क और ख एक दूसरे से विरुद्ध दिशाओं में चल रही हैं। इस दशा में ये दोनों एक दूसरे की ओर २० + ३० = ५० कोस प्रतिघंटे के वेग से बढ़ेंगी। दूसरे चित्र में दोनों की दिशा एक ही है। ख क के पीछे चल रही है और उसकी ओर ३० − २० = १० कोस प्रतिघंटे के वेग से बढ़ेगी। जिस समय ख क की ओर सामने से बढ़ रही होगी उस समय वह उसकी ओर दोनों के वेगों के जोड़

के साथ बढ़ती प्रतीत होती है परन्तु जिस समय वह पीछे से बढ़ेगी उस समय उसकी चाल दोनों के वेगों के शेष के बराबर प्रतीत होगी।

यह गणित का अटल सिद्धान्त है और अनुभव में भी ऐसा ही आता है पर यदि किसी समय इसके विरुद्ध अनुभव हो अर्थात्, ख चाहे सामने से आती हो चाहे पीछे से, उसकी चाल वही निश्चित ३० कोस प्रतिघंटा प्रतीत हो तो हम क्या कहेंगे? यदि क में बैठे हुए व्यक्ति को ख की चाल सदैव ३० कोस प्रतिघंटा ही मिलती है, चाहे उसकी दिशा कुछ भी हो, तो हम इस बात का क्या अर्थ लगावेंगे?

यदि कोई वस्तु १२ घंटों में २४० कोस भूमि पार करती है तो उसका वेग २० कोस प्रतिघंटा हुआ; सूत्ररूपेण।

$$\text{वे} = \frac{\text{दू}}{\text{का}} \left[\text{वे} = \text{वेग}, \text{दू} = \text{दूरी}, \text{का} = \text{काल} \right]$$

अब यदि वह १२ घंटे में १२० कोस चले तो वेग १० कोस ही होगा परन्तु यदि नापनेवाले की घड़ी में ३० मिनट का ही एक घंटा होता हो तो फिर भी वेग २० रह जायगा। इसी प्रकार यदि वह वस्तु १२ घंटों में ४८० कोस चले पर नापनेवाले के फ़ीते में हमारे दो कोसों के बराबर एक कोस होता हो तो भी वेग वही २० रहेगा। ठीक-ठीक नाप तभी हो सकती है जब सबके पास लम्बाई और काल की एक ही नाप हो। अन्यथा दूरी और समय-सम्बन्धी वाक्य—दूसरे शब्दों में सारा गणित—निरर्थक हो जायगा।

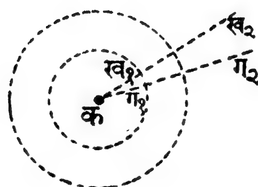
अब यदि ऊपर दिये हुए चित्रों में क पर बैठे व्यक्ति को ख का

वेग हर दशा में एक-सा ही प्रतीत होता है तो इसका कारण यही होगा कि वह हर बार लम्बाई और काल नापने के नये मान से काम लेता होगा।

यह सारा वर्णन व्यर्थ का शब्द-जाल प्रतीत होता है क्योंकि व्यवहार में कभी ऐसा अनुभव होता ही नहीं। वस्तुत: यह बात नहीं है। मोटरों और रेलों में तो नहीं परन्तु बहुत तीव्र वेगों के सम्बन्ध में यह बात देख पड़ती है। प्रकाश की गति बहुत तेज़ है—वह एक सेकंड में ९३,००० कोस चलता विदित होता है और विचित्र बात यह है कि हम किसी दिशा से आनेवाले प्रकाश को देखें सदैव उसका यही वेग रहता है। हमारे सामने से आता हो या पीछे से या बग़ल से, प्रकाश की गति एक सेकरड में ९३,००० कोस ही पाई जाती है। यह कैसे हो सकता है? इस प्रश्न का यही उत्तर हो सकता है कि प्रत्येक वस्तु का दिक्कालमान पृथक् है और उसकी गति पर निर्भर है। किन्हीं दो ग्रहों या नक्षत्रों पर न तो घड़ी की चाल मिल सकती है, न लम्बाई की नाप। सब अपना दिक् और काल अपने साथ लिये फिरते हैं। यदि कोई निश्चल, स्थिर विन्दु होता तो उस पर से बैठकर जो नाप होती वह निरपेक्ष होती पर ऐसा कोई विन्दु मिलता ही नहीं। प्रत्येक वस्तु गतिशील है। ऐसी दशा में दिक्काल की सारी गणना सापेक्ष है। केवल इतना कहना कि अमुक वस्तु की लम्बाई इतने गज़ है या अमुक घटना अमुक समय हुई पूर्णतया निरर्थक है। इस वाक्य का कुछ अर्थ तब ही निकाला जा सकता है जब यह भी बतलाया जाय कि वह वस्तु किस पिराड पर है, घटना किस पिराड पर हुई और देखनेवाला कहाँ था।

यह बड़ा कठिन विषय है और बहुत ही संक्षेप में कहा गया है पर इतना-सा वर्णन ही कुतूहल और आश्चर्य बढ़ाने के लिए पर्याप्त है। यदि प्रत्येक चलपिण्ड—और प्रत्यक्ष अनुभव में तो अचल पिण्ड मिलता ही नहीं—अपना पृथक् दिक्कालावरण रखता है तो फिर कोई शुद्ध दिक् और शुद्ध काल, ऐसा दिक् और काल जो सबके लिए एक-सा हो, है भी या नहीं? क्या यह पृथक् दिक् और काल उस शुद्ध दिक् और काल के प्रतीयमान रूप हैं? क्या दिक् और काल की कोई स्वतन्त्र सत्ता है भी या प्रत्येक पिण्ड पर रहनेवाला द्रष्टा अपने वातावरण के अनुसार इनकी कल्पना कर लेता है?

विश्व के सम्बन्ध में गणित और भी कई बातें कहता है। उनमें से एक यह है कि इस समय इसमें प्रसार हो रहा है। जैसे पेड़ में लगा कोई गोल फल पहले छोटा रहता है, फिर भीतर से बढ़ता है।

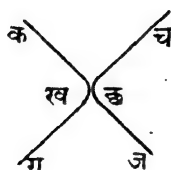


यदि व्यासार्द्ध पहले क ख१ था तो पीछे क ख२ हो गया। यह वृद्धि निरन्तर जारी है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि यदि दो स्थान पहले ख१ ग१ की दूरी पर होते हैं तो उनकी दूरी बढ़कर

ख$_2$ ग$_2$ हो जाती है। यह बात प्रत्यक्ष देख पड़ रही है। नीहारिकाओं और तारकसमूहों की दूरी बड़े वेग से बढ़ती जा रही है। विश्व के बढ़ने का वेग बढ़ता जा रहा है; यों कह सकते हैं कि यह अधिकाधिक तेजी के साथ फूल रहा है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह फूलना आज से कई खर्ब वर्ष पहले आरम्भ हुआ। एक बात और है। ज्यों-ज्यों काल बीत रहा है त्यों-त्यों इसके टुकड़ों की, फलतः इसकी, शक्ति क्षीण होती जा रही है और एक दिन यह बिना चाभी दी हुई घड़ी की भाँति निष्प्राण हो जायगा। इसका अर्थ यह हुआ कि आज से खर्बों वर्ष पहले इसमें महत्तम सचेष्टता, शक्तिमत्ता थी।

इन बातों पर विचार करने से कई प्रश्न उठते हैं। यह जो विश्व का प्रसार हो रहा है वह कभी रुकेगा भी? क्या यह रुकना उसी समय होगा जब यह निष्प्राण हो जायगा या बीच में ही कोई अज्ञात शक्ति रोक लेगी? गेंद या फल अपने चारों ओर की हवा में फैलता है? यह विश्व किसमें फैल रहा है? क्या इसके भी चारों ओर कुछ है? क्या विश्व के लिए 'चारों ओर,' 'बाहर' जैसे शब्दों का प्रयोग हो भी सकता है? क्या इस फैलते हुए गोले का कोई निश्चल केन्द्र है? क्या काल की उत्पत्ति तब से मानी जाय जिस दिन से इस विश्व ने फैलना आरम्भ किया और दिक् की अवधि वहाँ मानी जाय जहाँ जाकर फैलना रुकेगा? 'तब', 'वहाँ', 'जहाँ' का अर्थ भी क्या होगा? क्या इस चित्र में हमको दिक्काल से अनवच्छिन्न किसी अवस्था, किसी पदार्थ की झलक देख पड़ रही है, जिसको बुद्धि ठीक-ठीक पकड़ने में असमर्थ हो रही है?

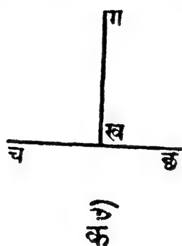
गणितज्ञ कहते हैं कि कई दृग्विषय जिनको समझने के लिए अदृश्य शक्तियों की कल्पना करनी पड़ती थी दिक् के स्वरूप के कारण गोचर होते हैं। उदाहरण के लिए, आकर्षण का दृग्विषय लीजिए। जितने भी भौतिक पदार्थ हैं वह एक दूसरे को आकृष्ट करते हैं। उनका आपस का आकर्षण उनके द्रव्यमानों और बीच की दूरियों पर निर्भर करता है। यदि दूरी दूनी हो जाय तो आकर्षण एक चौथाई, दूरी तिगुनी हो तो आकर्षण पहले का नवाँ हिस्सा रह जाता है। करोड़ों कोस की दूरी पर भी यह शक्ति तत्काल काम करती है। कैसे काम करती है यह समझ में नहीं आता था, क्योंकि आकर्षण की लहरें भी तो नहीं होतीं। गणित के विद्वान् कहते हैं कि आकर्षण दिक् का धर्म है। मान लीजिए, रेल की दो लाइनें



चित्र में बने क ख ग, च छ ज के आकार में बिछी हों। अब यदि दो गाड़ियाँ क और च पर पहुँचें तो वह एक दूसरे के निकट आती जायँगी और ख छ पर पहुँचकर मिल-सी जायँगी। यदि वह ख छ पर रुकी हों तो दूर होती जायँगी। यदि कोई व्यक्ति इतनी दूर पर खड़ा हो जहाँ से लाइनें न देख पड़ती हों पर वह गाड़ियों की इस प्रकार की गति बराबर देखता रहता हो तो वह यह तो समझ सकेगा नहीं कि गाड़ियाँ लाइनों के कारण इस प्रकार पास

आती और दूर जाती हैं, वह तो इसको गाड़ियों का ही धर्म्म समझेगा और कुछ दिनों में ऐसा नियम भी निकाल लेगा कि यदि दो गाड़ियाँ इतनी दूरी पर हैं तो वह इस प्रकार पास आती जायँगी, इतनी देर में इतना निकट आ जायँगी, इतने समय के बाद फिर यों दूर होंगी, इत्यादि। उसकी गणना ठीक उतरा करेगी। यदि किसी समय एक गाड़ी नियम के अनुसार चलती न देख पड़ी तो वह यह कहेगा कि कोई बाधा पड़ रही है। गणित के आचार्यों का कहना है कि वस्तुओं का एक दूसरे की ओर आना उनका धर्म नहीं है, न उनके बीच में कोई आकर्षण जैसी शक्ति काम करती है। दिक् का स्वरूप उनको इस प्रकार चलने के लिए विवश करता है। विद्युत्-प्रकाश आदि भी दिक् के धर्मों के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान को बिना किसी माध्यम के चले जाते हैं। यदि लहरें उठती हैं तो दिक् में। जहाँ पहले यह कल्पना थी कि समस्त दिक् में आकाश व्याप्त है और उसी में विद्युदादि की तरङ्गें चलती हैं वहाँ अब यह कह सकते हैं कि दिक् में व्याप्त कोई पृथक् आकाश पदार्थ नहीं है, दिक् ही आकाश है। परन्तु जहाँ आकाश भौतिक माना जाता था, दिक् भौतिक नहीं है। भूत का तो लिङ्ग ही यह है कि वह दिक् में रहता है, दिक् में कुछ स्थान घेरता है। दिक् को भौतिक कहने का यह अर्थ होगा कि दिक् दिक् में रहता है। यह व्यर्थ का शब्द-जाल है। अतः जिस दिग्रूपी आकाश में लहरें चलती हैं वह भौतिक नहीं है। परन्तु जगत् का मूलपदार्थ, जैसा कि हम देख चुके हैं, भूतरूपी भी है और शक्तिरूपी भी। फिर उसी को आकाश क्यों न कहा जाय ? यह आकाश तो अभौतिक नहीं कहा जा सकता।

इस प्रसङ्ग को समाप्त करने के पहले एक बात और देखनी है। हम एक जगह अन्तर्द्धान होने का उल्लेख कर आये हैं। देखिए इस सम्बन्ध में गणित क्या कहता है। हम दिक् को त्रिदिशात्मक जानते हैं। समतल में आगे-पीछे और दहिने-बायें दो ही दिशायें होती हैं। तीसरी दिशा ऊपर नीचे की है। जगत् में कोई भी विन्दु हो, इन तीन दिशाओं के द्वारा उसका निर्देश हो सकता है। पृथिवी पर के सब स्थानों का पता दो दिशाओं से बताया जाता है। भूमध्यरेखा से इतना उत्तर या दक्षिण और दोनों ध्रुवों को जोड़नेवाली रेखा से इतना पूर्व या पश्चिम बतलाना पर्याप्त है। भूतल पर ऐसा एक ही स्थान हो सकता है। यदि इतना और बता दिया जाय कि भूतल से इतना ऊपर या नीचे, तो फिर दिग्वर्ती सभी स्थानों का पूरा पता दिया जा सकता है। अब मान लीजिए कि कोई ऐसा प्राणी है जो केवल अपने सामने देख सकता है, इधर-उधर सिर नहीं हिला सकता।



यदि उसकी आँख क पर है तो जो वस्तु ख ग दिशा में चलेगी उसको तो वह देख सकेगा, यदि दूर चले जाने से न भी देख सका तो उसकी गति को समझ सकेगा पर यदि वह वस्तु च छ दिशा में ज़रा भी चली तो आँख से ओझल तो हो ही जायगी, उसकी गति समझ में भी नहीं आ सकती। जो गति अपने अनुभव में कभी आई ही

नहीं, जिसके अनुभव करने के लिए न तो आँख में शक्ति है, न अन्तःकरण में तैयारी, वह बुद्धि में नहीं आ सकती। वह प्राणी यही कह सकता है कि वस्तु अन्तर्द्धान हो गई। इसी प्रकार यदि कोई प्राणी दो दिशाओं में—आगे-पीछे और दहिने-बायें—देख सकता है तो इन दिशाओं में चरण करनेवाली वस्तुओं की गति को तो समझ सकेगा पर यदि वह वस्तु थोड़ा-सा भी ऊपर उठ गई या नीचे चली गई तो उसके लिए अदृश्य ही नहीं हो जायगी वरन उसकी गति समझ में भी न आयेगी। उसको यही कहना पड़ेगा कि वह अन्तर्द्धान हो गई।

हम लोग तीन दिशाओं में देख सकते हैं। यदि कोई वस्तु इन दिशाओं में चलते-चलते दूरी के कारण अदृश्य भी हो जाय तो उसकी गति को समझ सकते हैं। पर मान लीजिए, कोई और भी दिशा हो जिसके लिए हमारे पास कोई उपयुक्त इन्द्रिय और मस्तिष्क-केन्द्र न हो और कोई वस्तु उस दिशा में चल दे, तो क्या होगा? हमको तो ऐसी किसी दिशा का अनुभव नहीं है, हम समझ भी नहीं सकते कि इन तीन दिशाओं के अतिरिक्त चौथी दिशा कैसी हो सकती है। दहिने-बायें, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे के सिवाय और किधर चलना हो सकता है? हमारी दशा उन्हीं कल्पित जन्तुओं की-सी होगी जो दो या तीन दिशाओं की बात सोच भी नहीं सकते। यदि कोई चौथी दिशा है और कोई वस्तु उस चौथी दिशा में जाती है तो हम यही कह सकते हैं कि वह अन्तर्द्धान हो गई।

अब जो विद्युल्लवों के अन्तर्द्धान होने का दृग्विषय सामने आया तो गणितज्ञों का ध्यान इस ओर गया। उन्होंने सोचना

आरम्भ किया कि स्यात् कोई चौथी दिशा हो। उसका प्रत्यक्ष अनुभव तो हो नहीं सकता, बुद्धि भी उसकी कल्पना नहीं कर सकती पर विद्वानों ने यह गणना करना आरम्भ किया कि यदि कोई चौथी दिशा है तो उसमें गति किस प्रकार होती होगी। तीन दिशाओं के दिक् का रेखागणित तो है ही, चार दिशाओं का अस्तित्व मानकर रेखागणित के नये सिद्धान्तों की कल्पना की गई। यदि चार से अधिक दिशायें हों तो दिक् में रेखागणित के कैसे नियम होंगे, इस पर भी विचार हुआ है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि दिक् की तीन से अधिक दिशाओं की कल्पना करना अनावश्यक है। काल ही वह चौथी दिशा है। वस्तु का निर्देश कहाँ और कब, दिक् और काल, बताने से होता है। यदि वह दिक् की किसी भी दिशा में हिल जाय तो उसका स्थान बदल जायगा और वह अदृश्य हो जायगी, जब हम उस दिशा में चलेंगे या अपनी आँख बढ़ायेंगे तभी उसके फिर दर्शन होंगे। इसी प्रकार यदि वस्तु काल में हट जाय, वर्तमान से अतीत या अनागत की ओर चल दे तो भी हमारे लिए अदृश्य हो जायगी। अब हम अतीतकाल का अनुभव करने का सामर्थ्य तो रखते नहीं, यदि कोई वस्तु अतीत की ओर जाकर रुक जाय तो हमारे लिए वह सदा के लिए लुप्त या अन्तर्द्धान हो गई। पर यदि वह फिर वर्तमान में आ जाय तो देख पड़ जायगी। इसी प्रकार यदि वह भविष्यत् की ओर बहुत दूर चली गई तब तो हमारे लिए सदा के लिए अन्तर्द्धान हो जायगी, यदि दूर नहीं गई है तो जब वह भविष्यत् वर्तमान होगा तब उसके पुनः दर्शन हो जायँगे।

क्या सचमुच दिक् में तीन से अधिक दिशायें हैं ? यदि ऐसा है तो हमारे शरीर तथा अन्य सभी भौतिक पदार्थों का वह अंश जो चौथी या अन्य दिशाओं में फैला हुआ है हमको नहीं देख पड़ता। क्या वस्तुएँ काल में आगे-पीछे चला करती हैं ? काल की अतीत और अनागत दिशाओं को गोचर करने का भी कोई साधन है ? क्या यह विश्व सचमुच गेंद के स्वरूप का है और भीतर से बढ़ रहा है ? यदि ऐसा है, तो वह कौन-सी शक्ति है जो उसका परिचालन करा रही है ? गेंद कैसा भी बड़ा क्यों न हो, बुद्धि कहती है कि उसके बाहर कुछ होना चाहिए। यदि कुछ न हो तो शून्य दिक् होगा। इस हमारे विश्व के बाहर क्या है ? परन्तु बाहर और भीतर ऐसे शब्द हैं जो स्थानवाची हैं और स्थान का सम्बन्ध दिक् से है। एक के बाहर और दूसरे के भीतर की बात तो तभी कही-सुनी जा सकती है जब दोनों वस्तुएँ दिक् में हों। सच तो यह है कि भौतिक वस्तु शब्द का प्रयोग तभी हो सकता है जब कि दिक् का कुछ भाग घेरा जाय। जो दिक् में जगह न ले, दिक् में कुछ जगह न घेरे, वह भौतिक वस्तु नहीं है। दिक् विश्व में है या विश्व, जगत्, दिक् में है—दिक् और जगत्, जगत् और दिक्, इसी प्रकार जगत् और काल, काल और जगत्, दूसरे शब्दों में जगत्, दिक् और काल का अच्छेद्य सम्बन्ध है। ऐसी दशा में जो प्रश्न अभी पूछा गया था कि हमारे जगत् के बाहर क्या है ? इसका विस्तृत रूप हुआ 'दिक् और काल के बाहर क्या है ?' दिक् और काल को छोड़कर 'बाहर' शब्द निरर्थक है पर इस प्रश्न का अर्थ यह है कि क्या कुछ ऐसा भी है जो दिक् और काल से पृथक्, असंस्पृष्ट, अनवच्छिन्न है ? यह प्रश्न स्वाभाविक

है पर इसका उत्तर गणित के पास नहीं है। गणित के विद्वान् एक और प्रश्न भी पूछने लगे हैं—क्या दिक् और काल सचमुच हैं या केवल अन्तःकरण के धर्म्म हैं ? एक विद्वान् का कहना है कि यह विश्व किसी अज्ञात महागणितज्ञ की बुद्धिविक्रिया है।

जीवविज्ञान

जीव क्या है, या यों कहिए कि उसकी पहचान क्या है ? हम पत्थर को निर्जीव, कीड़े को सजीव कहते हैं। क्यों ? बुद्धि को जीव का लक्षण कहना कठिन है क्योंकि कीड़ा बुद्धिमान् है ऐसा कहना कठिन है। मनुष्य की बनाई ऐसी बहुत-सी मशीनें हैं जो कीड़े की अपेक्षा अधिक बुद्धिपूर्वक काम करती प्रतीत होती हैं। गतिशीलता को भी पहचान नहीं मान सकते क्योंकि मूँगा जैसे कई छोटे प्राणी हैं जो अपने से नहीं चल सकते। खाने-पीने को भी निश्चायक नहीं कह सकते क्योंकि रेलवे का इञ्जिन भी खाता-पीता है। पर दो-तीन लिङ्ग ऐसे हैं जिनका अन्यत्र व्यभिचार नहीं होता अर्थात् जो अजीवों में नहीं पाये जाते। एक तो सजातीय जन्म, दूसरा वृद्धि, तीसरा सजातीय उत्पादन है। अपने ही प्रकार के किसी दूसरे व्यक्ति के शरीर से उत्पन्न होना, उत्पन्न होने के बाद बढ़ना और फिर अपने ही समान किसी दूसरे व्यक्ति को उत्पन्न करना—यह बातें जीवधारी होने की पक्की परिचायिका हैं। कैसा भी सुचारु काम करनेवाला यंत्र हो, पर न तो वह अपने सजातीय यंत्र की देह से निकलता है, न बनने के बाद बढ़ता है, न अपने समान दूसरे यंत्र को जन्म देता है।

जितने प्रकार के जीवधारी हैं—यह स्मरण रखना चाहिए कि पेड़-

पौधे भी सजीव हैं, क्योंकि जीव होने के लक्षण उनमें भी मिलते हैं— उन सबके शरीर एक विशेष पदार्थ के बने होते हैं जिसे प्रोटोप्लाज़्म कहते हैं। यह एक मिश्र पदार्थ है जो छः तत्त्वों (कार्बन, गन्धक, नाइट्रोजन, फास्फरस, ऑक्सिजन और हाइड्रोजन) के मिश्रण से बना है। प्रत्येक प्रकार के प्राणी के शरीर में प्रोटोप्लाज़्म ही रहता है परन्तु सबका प्रोटोप्लाज़्म एक जैसा नहीं होता। उसके अङ्गभूत तत्त्वों की मात्राओं में भेद होता है। विश्लेषण करके प्रोटोप्लाज़्म में कौन-कौन से तत्त्व कितनी-कितनी मात्रा में हैं यह बात तो जान ली गई है पर अभी उन तत्त्वों को तत्तत् मात्रा में मिलाकर प्रोटोप्लाज़्म बनाया नहीं जा सका है। परन्तु इस दिशा में जो प्रयोग हुए हैं उनसे ऐसा अनुमान होता है कि इस बात में एक दिन सफलता हो जायगी। तब क्या वह प्रोटोप्लाज़्म सजीव हो उठेगा? ठीक नहीं कहा जा सकता पर ऐसा होना भी असम्भव नहीं है। तो फिर क्या उस समय हम यह कह सकेंगे कि जीव की सृष्टि की गई, मनुष्य ने अपनी प्रयोगशाला में जीव उत्पन्न कर लिया? इस प्रश्न के दो उत्तर हो सकते हैं। यदि जीव सत्य है, नित्य है, तो यह कहना पड़ेगा कि प्रोटोप्लाज़्म उसके लिए उपयुक्त शरीर निवासस्थान है, वह जहाँ भी प्रोटोप्लाज़्म पाता है, चाहे वह प्रकृति का बनाया हो या कृत्रिम हो, वहीं उसमें प्रवेश कर जाता है। अन्यथा, यह कहा जा सकता है कि जीव प्रोटोप्लाज़्म का एक धर्म है, प्रोटोप्लाज़्म के बनने पर प्रकट होता है। पान के बीड़े में चूना, कत्था, सुपारी और पत्ता होता है। इन सबके एक विशेष प्रकार से मिलने पर एक नये रस की, एक नये स्वादु की, जो चूना आदि किसी में भी पहले नहीं

था, अनुभूति होती है। यह रस पान के बीड़े का, सब सामग्री के उपयुक्त योग का धर्म है। इसी प्रकार जीव भी प्रोटोप्लाज्म का, गन्धक आदि के एक विशेष प्रकार के योग का, धर्म हो सकता है। इन दोनों में से कौन-सा उत्तर ठीक है ?

जो सबसे छोटे प्राणी हैं उनका शरीर तो प्रोटोप्लाज्म का एक कोष्ठ होता है। कुछ दिन के बाद उसके बीच में एक पतली दीवार-सी पड़ जाती है और वह एक से दो हो जाता है। दोनों टुकड़े बढ़-कर इसी प्रकार टूटते हैं और इनकी संख्या बढ़ती जाती है। कोई पृथक् इन्द्रिय नहीं होती। सारे शरीर में एक त्वगिन्द्रिय होती है। ऐसे प्राणी जल में ही रहते हैं। इनकी सारी खाल के रास्ते जल में से छनकर खाद्य सामग्री भीतर जाती है। न इनको पशु कह सकते हैं, न कीट, न पेड़।

बड़े प्राणियों के शरीर भी ऐसे ही कोष्ठों से बने हैं। मनुष्य माता के गर्भ में अपनी जीवन-यात्रा को एक ऐसे ही कोष्ठ के रूप में आरम्भ करता है और उस कोष्ठ से टूट-टूटकर इसी प्रकार अनेक कोष्ठ बनते-बनते पूरा शरीर निर्मित हो जाता है। इन बड़े शरीरों में कोष्ठों के काम बँट जाते हैं। सब कोष्ठ सब काम नहीं कर सकते यहाँ तक कि प्रजनन, सन्तानोत्पादन, भी थोड़े से कोष्ठों को, पुरुष के शरीर में शुक्रकीटों और स्त्री के शरीरों में डिम्भकीटों को सौंप दिया जाता है। परन्तु प्रत्येक कोष्ठ जीवित है। सब कोष्ठ मिलकर इस प्रकार काम करते हैं जिससे उनकी समष्टि, शरीर की सेवा हो परन्तु प्रत्येक कोष्ठ का अपना स्वतंत्र जीवन है, प्रत्येक कोष्ठ शरीर में सञ्चित रसों से अपना भोजन खींचता है। यदि किसी अवयव के

कोष्ठ एक साथ मर जाते हैं या भोजन ग्रहण करने में असमर्थ हो जाते हैं तो वह अङ्ग रोगी कहलाता है, सड़ जाता है।

हम कहते हैं कि अमुक मनुष्य या पशु या कीड़ा या पेड़ जीवित है। इससे हमारा तात्पर्य यह होता है कि इस शरीर का एक अधिष्ठाता जीव है, एक शक्ति है जो इस सारे शरीर को एक साथ चला रही है; पेट में भूख लगाती है, आँख को भोज्य-वस्तु दिखलाती है, पाँव को उसकी ओर बढ़ाती है, हाथ से उठवाकर उसे मुँह में डलवाती है, आमाशय में ऐसे रसों को उत्पन्न करती है जो भोजन से मिलकर उसे पचाते हैं, फिर पचे भोजन से उत्पन्न रसों को शरीर के कोने-कोने में पहुँचवाती है जिससे प्रत्येक कोष्ठ पुष्ट होकर अपना काम कर सके। इसी के सदृश क्रिया वृक्षों में भी होती है। जीव का स्वरूप कुछ भी हो, वह सारे शरीर का नियन्ता है अतः समझ में आता है कि शरीर भर में एक स्वामी, एक ही जीव, होता होगा। फिर यह प्रश्न उठता है कि यह जीव कोई स्वतंत्र चीज़ है या सब कोष्ठों के जो जीव हैं उनकी सम्मिलित शक्ति का ही नाम है? यदि केचुए को सफ़ाई के साथ बीच में से काट दिया जाय तो दोनों टुकड़े अलग-अलग दो केचुए हो जाते हैं। कुछ काल में एक की पूँछ, दूसरे का मुँह पूरा बन जाता है। ऐसे ही कुछ और भी प्राणियों में होता है। तो यहाँ हम क्या मानें, कीड़े के शरीर में पहले से ही दो जीव थे या हमारे काटने पर एक भाग में पुराना जीव रह गया, दूसरे में नया जीव आगया, या एक जीव के दो टुकड़े हो गये, या काटने पर पुराना जीव निकल गया, दोनों भागों में दो नये जीव आगये?

सबसे सीधे प्राणी तो एक कोष्ठवाले हैं। यह, जैसा कि हम

कह चुके हैं, जल में ही रहते हैं। जीवशास्त्र के विद्वानों का विश्वास है कि जब पृथिवी बसने के योग्य हुई तब पहले यही उत्पन्न हुए। आज जितने प्राणी हैं—सभी जातियों के वृक्ष, पौधे, कीट, कृमि, पशु, पक्षी, मनुष्य—वह इन्हीं के वंशज हैं। सबकी सृष्टि एक साथ नहीं हुई। करोड़ों वर्षों में उन पूर्वजों से इतनी विभिन्न जातीय सन्तति उत्पन्न हुई। मनुष्य-जाति का जन्म तो बहुत पीछे हुआ है। उसको अभी तीन सवा-तीन लाख वर्ष हुए हैं। जिस प्रकार यह विस्तार हुआ है उसे विकासक्रम कहते हैं। इस पर बड़ी सुन्दर पुस्तकें भरी पड़ी हैं। ऐसा कहा जाता है कि प्रत्येक प्राणी में दो प्रवृत्तियाँ होती हैं—आत्मरक्षा और जातिरक्षा या प्रजनन। इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों के कारण विकास, जाति से जात्यन्तर की उत्पत्ति होती है। कई बार पृथिवी पर ऋतुविपर्य्यय हुआ है। जहाँ आज गर्मी है वहाँ कभी कड़ी सर्दी पड़ती थी, जहाँ आज बर्फ़ के मैदान हैं वहाँ गर्मी थी। ऋतु-विपर्य्यय के साथ-साथ भोज्य सामग्री में भी विपर्य्यय होता है। इसका परिणाम यह होता है कि बहुत-से प्राणी, बहुत प्रकार के प्राणी, नष्ट हो जाते हैं। यह केवल अनुमान की बात नहीं है। भूगर्भ में से अब भी मृत जातियों के व्यक्तियों के कङ्काल मिलते रहते हैं जो वैज्ञानिक कल्पना की पूरी-पूरी पुष्टि करते हैं।

परन्तु परिवर्तन होने पर भी सब नहीं मरते। यों मान लीजिए कि उत्तरीय ध्रुव-प्रदेश की ओर सर्दी बढ़ी और भूतल हिमाच्छादित हो गया। ऐसी परिस्थिति में जो पशु श्वेत रङ्ग के होंगे वह अपनी रक्षा भी कर सकेंगे और शिकार भी कर सकेंगे, क्योंकि बर्फ़ में उनका रङ्ग मिल जायगा। उस समय यदि वहाँ भूरे रङ्ग के रीछ रहते होंगे

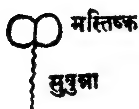
तो वह यदि सर्दी को सह भी गये होंगे तो उनका रङ्ग ही उनका शत्रु बन गया होगा और उनमें से अधिकांश यों ही मर गये होंगे। एक ही मा-बाप के सब बच्चे एक-से नहीं होते, कुछ थोड़ा-बहुत अंतर होता है। इसलिए रीछों में भी कुछ का रङ्ग औरों की अपेक्षा कुछ हलका रहा ही होगा। यही बच सके होंगे और सन्तति छोड़ सके होंगे। इस सन्तति में भी जो अधिक हलके रङ्ग की रही होगी वही बची होगी और उसकी सन्तान का रङ्ग और भी हलका हुआ होगा। क्रमशः श्वेत रङ्ग के रीछ होने लगे, जो परिस्थिति के सर्वथा अनुरूप थे। ऐसे रीछ वहाँ आज मिलते हैं। रङ्ग के साथ ही खाद्य सामग्री के अनुरूप दाँत, नख आदि में भी परिवर्तन होता है, शरीर पर के बाल घटते-बढ़ते हैं। मरुभूमि में रहनेवाले, जङ्गलों में रहनेवाले, जल में रहनेवाले, दिन में निकलनेवाले, रात में निकलनेवाले प्राणियों के रङ्ग-रूप को देखिए तो विकास का यह क्रम समझ में आने लगता है। एक बात और है। प्रत्येक प्राणी अपनी भ्रूणावस्था में एक प्रकार से अपना जाति का इतिहास दुहरा जाता है। मनुष्य एक कोष्ठ से जीवन आरम्भ करता है। कुछ दिनों के बाद वह मछली के समान हो जाता है, और आगे चलकर सरीसृप (रेंगनेवाला जन्तु) बनता है, फिर स्तन्याहारी की आकृति में आता है। घोड़े, हाथी, कुत्ता, सिंह सभी स्तन्याहारी हैं और शुरू में मानव-डिम्भ को इनके डिम्भों से पहचानना कठिन होता है। मनुष्य के निकटतम सम्बन्धी वानर हैं अतः शुद्ध मनुष्य बनने के पहले बच्चे की आकृति वानर जैसी होती है। कई विद्वानों का यह मत है कि ज़ब बाहरी परिस्थिति में परिवर्तन होता है तब उसके अनुकूल प्राणियों के शरीर

में भी परिवर्तन बहुत शीघ्र होता है। बरफ़ बढ़ने के साथ ही श्वेत रङ्ग भी सैकड़ों पीढ़ियों में नहीं, दो-चार पीढ़ियों में प्रधानता पा जाता है। अस्तु, मूल क्रम में इस मत के सत्य होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता।

यदि विकास के क्रम पर विहङ्गम दृष्टि डाली जाय तो दो बातें देख पड़ती हैं। एक तो यह है कि शरीर की स्वच्छन्दता अर्थात् निर्बाध गतिशीलता बढ़ती जाती है। शुरू में जो प्राणी हुए, जो अब भी विकास-सोपान की नीचे की सीढ़ियों पर हैं, वह शीत रक्तवाले कहलाते हैं। इसका तात्पर्य्य यह है कि उनके रक्त का तापमान बाहर के तापमान के साथ घटता-बढ़ता है। यदि बाहर गर्मी बढ़ी तो रक्त भी गर्म हो जाता है और उसके संचार का वेग इतना बढ़ जाता है कि हृदय उसको सँभाल नहीं सकता। गर्मी तेज़ होने से मृत्यु का भय रहता है। यदि सर्दी बढ़ी तो रक्त ठण्डा हो जाता है और उसकी गति मन्द पड़ जाने से हृदय के रुक जाने का डर रहता है। ऐसे प्राणी न बहुत गर्मी सह सकते हैं, न बहुत सर्दी। कीड़े, मछली, सर्प, कछुआ, छिपकली, मगर, मेढक इसी कोटि में हैं। अपनी रक्षा के लिए इन जीवों को चमड़े से ढाल का काम लेना पड़ता है। या तो खाल बहुत मोटी होती है या उस पर झिल्ली होती है या सारा चमड़ा कवच की भाँति होता है। पर इस प्रकार का शरीर तेज़ और दूर चलने में साधक नहीं होता और अच्छी तरह फैल नहीं सकता। दूसरे इसको बराबर तर रखना पड़ता है। इससे प्राणी बँधा रहता है। चिड़ियों और स्तन्याहारियों को उष्ण रक्तधारी कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि इनके रक्त का तापमान बाहर के तापमान पर

निर्भर नहीं करता। चमड़े के नीचे चर्बी की एक गद्दी होती है जो रक्त को बाहरी गर्मी-सर्दी के प्रभाव से बचाती है। अत्यधिक गर्मी सर्दी का तो प्रभाव पड़ता ही है, अन्यथा शरीर का तापमान सदा प्राय: एक-सा रहता है। जैसे, मनुष्य के शरीर का तापमान ९८·४° के लगभग होता है। ऐसे प्राणी बहुत गर्मी-सर्दी सह सकते हैं, इस-लिए बहुत-सा ऋतुपरिवर्तन झेल सकते हैं। इनको अपनी पीठ पर कवच ढोने की आवश्यकता नहीं है। चिड़ियों में यह कवच टूटकर परों के रूप में सारे शरीर पर फैल गया है। पशुओं में बालों के रूप में बच रहा है। कवच से मुक्त होने के कारण प्राणी दूर-दूर तक आ-जा सकता है, तेज़ चल सकता है, अपने हाथ-पाँव चारों ओर फेंक सकता है और इस प्रकार प्रकृति से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

विकास में दूसरी बात यह हुई है कि बुद्धि अधिक तीव्र होती गई है। कीट-पतङ्ग के शरीर में मेरुदण्ड (पीठ की हड्डी) नहीं होता। मछलियों के शरीर में होता है। इस हड्डी का महत्त्व यह है कि इसके विवर में सुषुम्ना नाड़ी रहती है। शरीर के अवयवों से सम्बद्ध नाड़ि-तन्तु इस नाड़ी से मिले रहते हैं। सिर में पहुँचकर यह नाड़ी मस्तिष्क से मिल जाती है। मस्तिष्क नाड़ियों का गुच्छा है। मस्तिष्क और सुषुम्ना का सम्बन्ध कुछ इस प्रकार का है—



जिस प्राणी को पृष्ठास्थि नहीं होती उसको मस्तिष्क भी नहीं होता। जिसको मस्तिष्क नहीं होता उसको बुद्धि नहीं होती। मस्तिष्क, सुषुम्ना और नाड़िजाल के मिले रहने से यह होता है कि शरीर के किसी स्थान में कोई वेदना हो, मस्तिष्क को उसकी सूचना मिल जाती है। मस्तिष्क सारे शरीर की क्रियाओं को एक सूत्र में ग्रथित रखता है।

पृष्ठास्थिहीन प्राणियों में यह बात नहीं है। उनके शरीर में कई स्वतंत्र नाड़िकेन्द्र हैं। एक भाग के कट जाने पर भी दूसरे भाग को इस क्षति का बहुधा पता नहीं चलता। उनमें बुद्धि भी, जिसका मस्तिष्क के साथ साहचर्य्य है, नहीं होती। कुछ पृष्ठास्थिहीनों, जैसे चींटी और मधुमक्षिका की जीवनचर्य्या में बड़ी समझदारी का परिचय मिलता है पर यह समझदारी बुद्धि नहीं है। बुद्धि का लक्षण यह है कि वह अभूतपूर्व परिस्थिति का सामना कर सकती है। मछलियाँ भी नई स्थिति के उत्पन्न होने पर रुककर कुछ सोचती हैं पर कोई पृष्ठास्थिहीन सोचता नहीं। वह उन्हीं कामों को कर सकता है जो उसके पूर्वज कर आये हैं। ये काम प्रायः हितकर होते हैं, यही उनमें समझदारी का धोखा उत्पन्न करता है, परन्तु यदि कभी अहितकर भी हों तो भी किये जाते हैं। बहुत-से कीड़ों में मादा के शरीर से रात में प्रकाश निकलता है। उसी को देखकर नर उसके पास तक पहुँच जाता है। बस प्रकाश की ओर आकृष्ट होना एक सहज स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जहाँ प्रकाश होगा दौड़ पड़ेंगे। पतङ्ग को दीपक में जलते देखकर इस प्रकार की समझदारी की क़लई खुल जाती है।

अस्तु, तो विकास का परिणाम हुआ है शरीर और मस्तिष्क की शक्तियों पर से प्रतिबन्धों का दूर करना। इस समय मनुष्य विकास

का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। उसका मस्तिष्क सबसे उन्नत और बुद्धि सबसे प्रखर है। प्रकृति पर उसने बड़ी विजय पाई है। यह नहीं कह सकते कि मनुष्य ही चरम प्राणी होगा या इससे भी उन्नत प्राणी उत्पन्न होंगे; यदि हुए तो उनकी बुद्धि और भी प्रखर होगी। नीचे के प्राणी अपना पूरा शस्त्रागार—नख, काँटे, सींग, वर्म्म—अपने साथ ले चलते हैं पर नये शस्त्र नहीं गढ़ सकते; मनुष्य प्रायः निहत्था रहता है परन्तु अवसर के अनुकूल शस्त्रों की रचना कर सकता है। इसी लिए उसके सामने और प्राणी नहीं ठहर सकते। बुद्धि के विकास का एक बड़ा परिणाम यह हुआ है कि प्रकृति पर विजय पाने के उद्देश्य से मनुष्य ने प्रकृति का गहरा अध्ययन किया है और प्रकृति के साथ-साथ अपने को भी पहचानने का यत्न करता है।

विकास क्यों होता है? परिस्थितियों के परिवर्तन के समय क्यों ऐसे प्राणी उत्पन्न होते हैं जो उसके अनुकूल होते हैं? एक ही मा-बाप की सन्तान में क्यों विभेद होता है? प्राकृतिक विकास सोद्देश्य है या निरुद्देश्य? अर्थात्, यह जो पृष्ठास्थिहीन से पृष्ठास्थियुक्त, अमस्तिष्क से समस्तिष्क, अबुद्धिप्राय से बुद्धिधर्म्मा, प्राणी लाखों-करोड़ों वर्षों में धीरे-धीरे उत्पन्न हुए हैं, उस इन्द्रियहीन, अवयवहीन, एक कोष्ठवाले प्रोटोप्लाज़्म विन्दु के कुल में आज दिक्काल की मर्यादा नापनेवालों ने जन्म लिया है, उस मूल जीव में जो शक्तियाँ छिपी पड़ी थीं उनका जो प्रस्फुटन हुआ है, वह आकस्मिक है या किसी दिव्य शक्ति के पहले से सोचे हुए क्रम के अनुसार है? वह शक्ति कौन-सी है? जीव शरीर के साथ मर जाता है या बच जाता है? यदि बच जाता है तो क्या होता है?

कुछ विद्वानों का मत है कि एक जीवन-शक्ति है जिसमें अनन्त कर्म्म और ज्ञान की सम्भावना भरी पड़ी है। वह अपने को अभिव्यक्त करने में निरन्तर सचेष्ट है—यह उसका स्वभाव है। उसकी अभिव्यक्ति का प्रवाह कभी रुकता नहीं। सैकड़ों हज़ारों प्रकार के शरीरों में जाती है; जिनमें उसकी छिपी सम्भावनायें खिल सकती हैं, फैल सकती हैं, उनको अधिक पसन्द करती है। शेष को नष्ट कर देती है। पर उसको तोष नहीं होता क्योंकि अभी तक आदर्श शरीर नहीं बना, स्यात् कभी न बन सकेगा। आदर्श शरीर तो वह होगा जिसके द्वारा जीवन-शक्ति की आत्मा पूर्णतया निर्बाध हो जाय—सब कुछ कर सके, सब कुछ जान सके, उसने वृत्तादि में प्रवेश किया, पर वहाँ अपने को क़ैद पाया। पृष्ठास्थिहीन कीटादि में गई—वहाँ भी बहुत थोड़ा फैलाव मिला। समस्तिष्कों में आई और आते-आते मनुष्य-शरीर तक पहुँची। इस शरीर में बहुत कुछ क्षमता है, फिर भी बन्धन है। बुद्धि का मार्ग भी बड़ा धीरा है। तर्क से ब्योरेवार ज्ञान तो मिलता है पर तर्क की पहुँच दूर तक नहीं है। अब भी जीवन-शक्ति संतुष्ट नहीं है। न अपने को पूरा पहचान पाती है, न जगत् को। ज्ञान का साधन बुद्धि से भी सूक्ष्म होना चाहिए, जो ज्ञेय के सामने आते ही बिना किसी प्रकार की तर्कणा के उसको भीतर-बाहर से समझ ले। तभी इस शक्ति की पूरी अभिव्यक्ति होगी, जीव पूरा जीव होगा। उसकी खोज विकास के प्रवाह को रुकने न देगी। प्रश्न अब भी रह जाता है कि यह शक्ति क्या है ? क्या वह अपनी इच्छापूर्वक विकासोन्मुख हुई है या उसी प्रकार, जैसे पानी निम्न दिशा की ओर जाने के लिए विवश है ?

मनोविज्ञान

मनोविज्ञान का विषय चित्त की वृत्तियाँ हैं। पहले तो पृथक् प्रौढ़ व्यक्तियों के मनोभावों का ही अध्ययन किया जाता था, अब पशु-पक्षियों और बच्चों के अन्तःकरणों की अवस्था का भी अनुसन्धान किया जाता है। समूहों के चैतस द्विषयों का अलग ही विभाग है। पागलों और रोगियों के मनोविकारों पर भी ध्यान दिया जाता है। इस व्यापक अध्ययन से प्रौढ़ मनुष्य की चित्तवृत्तियों को समझने में बड़ी सहायता मिलती है।

प्रमाण, विपर्यय, राग, द्वेष, स्मृति, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ—यह सभी वृत्तियाँ चेतनता का द्योतन करती हैं। जो बात इसी अध्याय में जीव के सम्बन्ध में कही गई थी वही चेतनता के सम्बन्ध में, जो जीव का ही धर्म है, कही जा सकती है। चेतनता क्या है? वह स्वतंत्र पदार्थ है या शरीर के अवयवों के पृथक् जीवनों के सहयोग से उत्पन्न कोई धर्म्म है, जो इन अवयवों के बिखर जाने पर नष्ट हो जायगा? यदि चेतनता नित्य, सत्य, वस्तु है तो शरीर में एक ही बार आती है या एक शरीर को छोड़कर शरीरान्तर में जाती है? यदि जाती है तो क्या पूर्व शरीर से कोई संस्कार, कोई स्मृति, पूर्व-जीवन के अनुभवों का कोई प्रभाव अपने साथ लाती है? हम पिछले अध्याय में यह भी देख चुके हैं कि ऐसा मानने के लिए भी स्थल है कि वृत्तियों के अतिरिक्त और कोई ज्ञाता, द्रष्टा या सुख-दुःख का भोक्ता नहीं है।

मनोविज्ञान ऐसा मानता है कि मनुष्य माता के गर्भ से ही कुछ प्रवृत्तियों को लेकर जन्म लेता है। कुछ लोगों का मत है कि काम

इनमें से प्रबलतम है। मनुष्य अपनी काम-प्रवृत्ति को पहचानता नहीं पर वह बचपन से ही व्यक्त होने लगती है। पदे-पदे उसे अतृप्त रखना पड़ता है, छिपाना पड़ता है। बड़े होने पर, जब कि उसका रूप स्पष्ट हो जाता है, तब भी खुलकर उसकी तृप्ति नहीं हो सकती। समाज की ओर से रुकावटें पड़ती हैं। फलतः चित्त में एक संघर्ष-सा मचा रहता है। जो प्रवृत्ति हठात् दबा दी जाती है वह नष्ट नहीं होती, अन्तःकरण में छिपी रहती है और दूसरी प्रवृत्तियों के साथ मिलकर प्रकट होती है, अपने अनुकूल स्वप्न दिखलाती है, कभी-कभी पागल कर देती है। कभी-कभी प्रवृत्ति का उन्नयन भी हो जाता है, वह ऊपर उठ जाती है और अपने प्रकृत रूप को छोड़ देती है। काव्य-रचना, चित्रकारी, भक्ति—ये काम प्रवृत्ति के उन्नीत रूप हैं। एक और पक्ष कहता है कि मनुष्य की सबसे प्रबल प्रवृत्ति यह है कि वह अपने को इस विश्व में छोटा पाता है, कमी का अनुभव करता है और उसके सारे प्रयत्न इसी लिए होते हैं कि या तो कमी दूर हो जाय, या छिप जाय या ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जिसमें वह औरों की कमियों से अल्प प्रतीत हो। कुछ विद्वान् अन्तःकरण की सत्ता मानते ही नहीं, वे नाड़िजाल और मस्तिष्क-केन्द्रों के आघात को ही मानते हैं। दूसरों का मत है कि अन्तःकरण में जो वृत्तियाँ उठती हैं वे वस्तुतः विद्युत्-शक्ति से उत्पन्न होती हैं। नाड़िजाल के विभिन्न भागों में विद्युत्प्रवाह होने से चित्त में वृत्तियाँ उदय होती हैं।

यह सब मत अभी प्रयोगावस्था में हैं। भौतिक विज्ञान की भाँति मनोविज्ञान अभी निश्चयों पर नहीं पहुँचा है। पर उसको इन

प्रश्नों का उत्तर तो देना ही है कि यदि चेतना कोइ स्वतन्त्र पदाथ नहीं है तो वह भूतसंघात में कब और कैसे उत्पन्न होती है ? मूल प्रवृत्तियाँ कोई भी हों, पर सभी बच्चों की बौद्धिक सामग्री एक-सी क्यों नहीं होती ? एक ही माता-पिता की सन्तान, एक-सी ही अवस्था में पले हुए, बच्चों में कोई प्रतिभाशाली होता है, कोई मूर्ख, कोई छोटे वय से सङ्गीत की ओर झुकता है, कोई पूजा-पाठ की ओर, कोई कामुक होता है, कोई संयमी। ऐसा क्यों होता है ? क्यों एक की बुद्धि गणित में लगती है, दूसरे की इस विषय से घबराती है ?

यदि चेतना भौतिक पदार्थों का धर्म्म नहीं है तो फिर उस पर भौतिक चीज़ों का प्रभाव कैसे पड़ता है ? खाना-पीना बन्द होने से क्रोध बढ़ता है, यह सभी देखते हैं। शरीर में कुछ रस सञ्चय करने-वाली थैलियाँ हैं। इनमें से एक को ऐड्रिनल थैली कहते हैं। यदि उसका रस अधिक मात्रा में शरीर में उत्पन्न हो या ओषधि की भाँति शरीर में प्रविष्ट हो तो क्रोध बढ़ता है। पिटुवटरी थैली के रस के आधिक्य से कामवासना जल्दी उद्दीप्त होती है और शरीर के वह भाग जिनका प्रजनन से सम्बन्ध है जल्दो बढ़ते हैं। यदि गोनैड थैलियों का रस न पहुँचे तो कामवासना उठती ही नहीं। ये सब बातें कैसे होती हैं ? यदि चेतना शुद्ध अभौतिक पदार्थ है तो उसमें भौतिक पदार्थों का प्रतिबिम्ब कैसे पड़ता है, उसको स्थूल भौतिक पदार्थों का ज्ञान कैसे होता है ? यदि वह भौतिक नहीं है अर्थात् मस्तिष्क और नाड़िजाल के संघात से उत्पन्न गुण नहीं है, तो उसका जिसका वह धर्म्म है, जो चेतन है, अन्तःकरण से भेद है या अभेद ? इस चेतन का शरीर में कोई विशेष स्थान है ?

और भी प्रश्न उठते हैं। सुख-दुःख का अनुभव चेतन को होता है, उसको कोई चीज़ अच्छी लगती है, कोई बुरी। यह अच्छापन, बुरापन, सुखदपन, दुःखदपन उसका धर्म्म है या ज्ञेय वस्तुओं का ? यदि यह सब उसका अपना धर्म्म है तो फिर हमको चित्त के द्वारा वस्तुओं के विषय में नहीं, वृत्तियों के विषय में ज्ञान होता है। हम समझते हैं कि यह गुण वस्तुओं के हैं परन्तु वस्तुतः हम वृत्तियों के गुणों को कल्पना के द्वारा बाहर आरोप करते हैं। यदि ये गुण सचमुच वस्तुओं में हैं तो फिर इसका क्या कारण है कि वही वस्तु एक व्यक्ति को सुखद, दूसरे को दुःखद, और एक ही व्यक्ति को कभी सुखद, कभी दुःखद, प्रतीत होती है ? यदि यह माना जाय कि ये बातें अंशतः वस्तुओं में हैं, अंशतः चित्त में, तो भी तो यह प्रश्न रह जाता है कि बाहर क्या है, यह ठीक-ठीक कैसे जाना जाय ? बाहर के आघात से नाड़िजाल और मस्तिष्क प्रकम्पित हो उठता है, उससे अभौतिक चित्त में भय, हर्ष, क्रोध, इच्छा आदि भाव प्रकट होते हैं। चित्त में इच्छा या द्वेष का उदय होता है उससे मस्तिष्क और नाड़िजाल में कम्पन हो उठता है और हाथ, पाँव आदि अपने अपने नियत कामों में लग जाते हैं। यह नाड़िव्यूह और चित्त का एक दूसरे को प्रभावित करना कैसे होता है ?

न्यायशास्त्र और भौतिकजगत्

इस शीर्षक में न्यायशास्त्र शब्द कुछ भ्रामक है क्योंकि यहाँ पर गौतमप्रणीत न्यायदर्शन या तदङ्गभूत समस्त तर्कशास्त्र से तात्पर्य्य नहीं है। स्यात्, विचारविज्ञान कहना अधिक उपयुक्त हो। विचार-

विज्ञान के अनुसार ही हम अनुमान के द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं। अनुमान की प्रक्रिया के पाँच अङ्ग हैं, इसी लिए पूरी प्रक्रिया को पञ्चावयवी कहते हैं। इसका उदाहरण यह है—

उस पहाड़ पर आग है, धूम्रयुक्त होने से (प्रतिज्ञा)।
जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है (हेतु)।
जैसा कि चूल्हे में होता है (उदाहरण)।
वैसा ही यहाँ भी है (उपनय)।
इसलिए, उस पहाड़ पर आग है (निगमन)।

जैसा कि पहले भी एक स्थल पर कहा जा चुका है हम यह विश्वास करते हैं कि यदि हमारी पञ्चावयवी ठीक बैठ गई है तो निगमन भी ठीक होगा अर्थात् वस्तुस्थिति के अनुकूल होगा। पञ्चावयवी का ठीक होना न होना हेतु के ठीक होने पर है। इसमें कई दोष हो सकते हैं। जैसे, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। उदाहरणार्थ, इस प्रकार की पञ्चावयवी सदोष होगी—

उस पर्वत पर धुआँ है, अग्निमान् होने से।
जहाँ-जहाँ आग होती है, वहाँ-वहाँ धुआँ होता है।
जैसे चूल्हे में।
वैसा ही यहाँ भी है।
इसलिए, उस पर्वत पर आग है।

क्योंकि हेतु ग़लत है। कई जगहों में आग होती है परन्तु धुआँ नहीं होता। इसमें अव्याप्ति दोष है।

इसी प्रकार यह पञ्चावयवी भी सदोष है—

उस पर्वत पर कोई भोजन बना रहा है, अग्नि होने से जहाँ-जहाँ आग होती है, वहाँ-वहाँ कोई भोजन बनाता रहता है।

जैसे चूल्हे में।

वैसा ही यहाँ भी है।

इसलिए, उस पर्वत पर कोई भोजन बना रहा है। क्योंकि आग वहाँ भी होती है जहाँ भोजन बनता होता है और वहाँ भी होती है जहाँ नहीं बनता होता। इसको अतिव्याप्ति दोष कहते हैं। असम्भव वह लक्षण है जो कहीं भी नहीं घटता। जैसे कोई यह कहे कि जहाँ-जहाँ आग होती है वहाँ-वहाँ ठण्डक होती है।

अस्तु, यदि इस प्रकार का कोई दोष न हुआ और ठीक-ठीक व्याप्ति मिल गई तो जो निगमन होगा वह वस्तुस्थिति का यथार्थ बोधक होगा। बिना पर्वत पर गये भी हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वहाँ आग होगी और हमको इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं होता कि यदि कोई वहाँ जाय तो उसे अवश्य आग मिलेगी। आग न मिलना हमारे लिए आश्चर्य्य का विषय होगा। यदि तर्क में कहीं त्रुटि होती है, हेतु, उदाहरण और उपनय में कहीं असामञ्जस्य होता है तो चाहे हम त्रुटि को पकड़ न सकें पर यह जान पड़ता है कि कुछ भूल हो रही है। विचार के प्रवाह के लिए जैसे एक प्राकृतिक दिशा है। यदि कोई विचार को भ्रम से या छल से दूसरी दिशा में ले जाता है तो हमको खटका हो जाता है। तर्क-प्रवाह की बिगड़ी दिशा को पहचानने के लिए तर्कशास्त्र के पण्डितों ने बहुत-से उपाय बतलाये हैं। विचार नियमों से बँधकर चलता है, इसलिए तर्कशास्त्र को विज्ञान कहना उचित है।

तर्कशास्त्र के नियमों के अनुसार ही मनुष्य बाह्य जगत् के दृग्विषयों का अध्ययन और वर्गीकरण करता है और उनमें से व्यापक सार्वभौम नियमों को निकालता है। किसी ने एक बार एक आम को पेड़ से टपकते देखा, पत्थर को नीचे गिरते देखा, पृथिवी की सौरपरिक्रमा पर दृष्टि डाली। उसने इन सब दृग्विषयों को एक वर्ग 'आकर्षण' में डाला और उस नियम को ढूँढ़ा जिसके अनुसार यह एक दूसरे को आकृष्ट करते हैं। पृथिवी पर की या जगत् की सभी वस्तुओं को देखने की आवश्यकता नहीं है। थोड़े-से उदाहरणों के आधार पर नियम बनाया जाता है और फिर नई वस्तुओं पर उसकी परीक्षा की जाती है। यदि वह भी उसका अनुसरण करती हैं तो नियम ठीक है, अन्यथा उसमें संशोधन की आवश्यकता प्रतीत होती है।

इसी पद्धति का अनुसरण करके वैज्ञानिकों ने बहुत-से नियम निकाले हैं। इनको प्राकृतिक नियम कहते हैं और अपने-अपने क्षेत्र में यह अटल माने जाते हैं। सारा विश्व इन नियमों के अनुसार चल रहा है। नियमों की सत्ता पर विज्ञान को इतना दृढ़ विश्वास है कि यदि कोई दृग्विषय किसी विदित नियम के अन्तर्गत नहीं आता तो चित्त को शान्ति नहीं होती। जैसे जगत् अनादि और अनन्त है वैसे ही उसका नियामक विधान, ऋत, अनादि और अनन्त है। यह ऋत अडिग है, इसका सारा काम नपा-तुला होता है। एक विद्वान् ने कहा है कि यदि विश्व का नियामक कोई ईश्वर है तो वह गणित का प्रगाढ़ पण्डित होगा। कहने का तात्पर्य्य यह है कि यदि कोई घटना आकस्मिक, नियमप्रतिकूल, देख पड़ती है तो हमको ऐसा प्रतीत

होता है कि हमारे नियमज्ञान में कमी है, वस्तुतः नियम का उल्लङ्घन नहीं हुआ है। जो दृग्विषय स्पष्ट नियमों में नहीं बाँधे जा सकते उनको विज्ञान का विषय मानने में भी सङ्कोच होता है। किस रस के संयोग से किस धातु पर क्या प्रभाव पड़ेगा यह निश्चित है परन्तु किस अवस्था में मनुष्य क्या करेगा, यह उतना निश्चित नहीं है, इसलिए रसायनशास्त्र जिस प्रकार 'विज्ञान' है उस प्रकार मनोविज्ञान विज्ञान नहीं है। विज्ञान का लक्षण ही यह है कि उसके विषयभूत दृग्विषयों के सम्बन्ध में ठीक-ठीक गणना की जा सके और इस गणना के आधार पर भविष्यत् में क्या होगा यह बतलाया जा सके।

अब यहाँ एक बात विचारणीय है। दृग्विषय बाहर जगत् में होते हैं। उनमें जो कुछ सम्बन्ध होता होगा बाहर ही होता होगा। पर नियम तो तर्कशास्त्र के अनुसार बनते हैं। जिस प्रक्रिया के फलस्वरूप हम नियमों तक पहुँचते हैं वह मानस प्रक्रिया है। जो तर्कणा की जाती है उसकी साधुता-असाधुता, ठीकपन-बेठीकपन की जाँच, विचार, विज्ञान के अनुसार की जाती है—हम यह परीक्षा करते हैं कि इस नियम में कोई ऐसी बात तो नहीं है जो विचारधारा की प्रकृत दिशा के विरुद्ध हो। और फिर इस अन्तःकरण में पले विचार-सन्तान को प्राकृतिक घटनाओं की कसौटी पर रखते हैं।

और विलक्षण बात यह है कि प्रयोग सफल निकलता है। चित्त कहता है कि अमुक स्थान पर अमुक समय अमुक घटना घटित होनी चाहिए और हम देखते हैं कि उस स्थान पर उस समय वही घटना घटित होती है। यह कैसे होता है? घटना-प्रवाह और विचार-प्रवाह

में यह सामञ्जस्य कैसे होता है ? क्या विश्व के नियम, प्राकृतिक नियम, अन्तःकरण के नियमों के अनुवर्ती हैं और भौतिक जगत् चित्त वृत्तिमय जगत् की प्रतिच्छाया है ?

एक बात और भी तो हो सकती है। जगत् में जो नियमितता देख पड़ती है वह स्यात् हमारे अन्तःकरण ने ही आरोपित कर रक्खी हो। हम पहले अध्याय में ही देख चुके हैं कि इस बात की सम्भावना है कि मैं, पर आदि सम्बन्ध वस्तुओं के अपने गुण होने के स्थान में अन्तःकरण-द्वारा आरोपित हों। यह बात भी हो सकती है कि दिक् और काल अन्तःकरण के धर्म हों। इसी प्रकार यह भी हो सकता है कि चित्त वस्तुओं को अपने ढाँचे के अनुसार ही ग्रहण कर सकता हो। यदि हम बहते पानी में घड़े और बालटी लेकर खड़े हो जायँ तो हमारे हाथ में तो पानी इन बर्तनों के रूप में ही आयेगा, पात्र पानी को प्रवाह के रूप में नहीं बरन अपने आकार में ही धारण कर सकता है। इसी भाँति अन्तःकरण जगत् को उसके वास्तविक रूप में नहीं प्रत्युत अपने आकार में, विचारधारा के अनुकूल, ग्रहण करता होगा। जगत् के तात्त्विक रूप का जो अंश इस साँचे में न आ सकता होगा उसे चित्त छोड़ देता होगा, ग्रहण ही न करता होगा। इसलिए जगत् में काम करनेवाले नियम विचार-विज्ञान के नियमों के प्रतिबिम्ब-मात्र होंगे। यह बात हो या न हो पर ऐसा होना असम्भव नहीं है कि जगत् के जो नियन्ता ध्रुव नियम, अटल प्राकृतिक नियम, समझे जाते हैं वे वस्तुतः हमारे अन्तःकरण के बाहर नहीं हैं। अनुमान यथार्थ ज्ञान दे सकता है, इसमें भी सन्देह है। हमने लाखों मनुष्यों को मरते देखकर यह नियम बनाया है कि

मनुष्य मरणधर्मा है, फिर भी यह हो सकता है कि कोई एक ऐसा मनुष्य निकल आये जो न मरे। अनुमान यह कह सकता है कि कल सूर्योदय होने की बहुत बड़ी सम्भावना है परन्तु सूर्य के उदय न होने की सम्भावना को काट नहीं सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्ण, निर्विकल्प, सत्य तर्क की परिधि के बाहर है।

(ङ) योगशास्त्र

योगशास्त्र का नाम विज्ञानों की सूची में देखकर कुछ लोगों को आश्चर्य होगा परन्तु इसके वेत्ता इसको विज्ञान मानते हैं और इसके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसको सर्वथा विश्वसनीय समझते हैं। उनका यह कहना है कि योगी का ज्ञान दूसरे साधनों से उपलब्ध ज्ञान की भाँति एकाङ्गी और एकदेशीय नहीं होता बरन व्यापक होता है और सत्य—सम्पूर्ण सत्य—उसका विषय होता है।

बौद्धसम्प्रदाय को छोड़कर और सभी सम्प्रदाय प्रत्यगात्मा की सत्ता मानते हैं। प्रायः सभी ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं। इन बातों का प्रमाण क्या है? तलवार के बल से किसी का मुँह बन्द कर देना दूसरी बात है, पर शुद्ध तर्क से इन बातों, कम से कम ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करना कठिन है। जो लोग श्रद्धालु हैं वह वेद, क़ुरान, बाइबिल की बात को प्रमाण मान लेंगे। परन्तु इन पुस्तकों को क्यों प्रामाणिक माना जाय? किसी ऋषि, पैग़म्बर, सन्त के नाम की दुहाई देने से भी काम नहीं चलता। यह क्यों मान लिया जाय कि वह सत्य से परिचित थे और यथार्थवादी थे?

समय-समय पर ऐसे लोग उत्पन्न होते रहे हैं जो यह कहते हैं

कि हमने सत्य का, इस जगत् के सारभूत सत्य का, अनुभव किया है। वह दूसरों को भी ऐसा अनुभव करने का उपदेश देते हैं। उनका कहना है कि यह काम कष्टसाध्य निःसन्देह है पर असाध्य नहीं है। जो इस मार्ग पर चलकर सत्य का अनुसन्धान करना चाहे उसको संयम का जीवन बिताना होगा। पर सच्चे विद्यार्थी का जीवन संयममय तो होता ही है। जिस मार्ग से अनुसन्धान होता है उसके अनेक नाम हैं और ब्योरे की बातों में अन्तर भी है परन्तु मुख्य बात यह है कि चित्त को एकाग्र करना होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उसको बाहर से हटाकर उसके स्रोत को अन्तर्मुख किया जाय। इस शास्त्र के वेत्ताओं का कहना है कि चरमावस्था में चित्त की वृत्तियों का पूर्ण निरोध हो जाता है। ज्यों-ज्यों चित्त में एकाग्रता आती है, त्यों-त्यों सत्य का साक्षात्कार बढ़ता है। हम इसी सत्य की साक्षात्कार-प्रक्रिया को योगशास्त्र कहते हैं।

इन लोगों का कहना है कि इस प्रकार उन सब प्रश्नों का, जो हमको व्याकुल करते रहे हैं, उत्तर मिल जाता है। दिक्काल स्वतः सत्य हैं या अन्तःकरण के धर्म हैं ? जगत् का सारभूत सत्य क्या है ? जीव क्या है ? चेतनता शरीर का धर्म है या उससे स्वतंत्र ? आत्मा है या नहीं ? ईश्वर है या नहीं ? यह सब महत्त्व के प्रश्न हैं और योगी कहते हैं कि योग के अभ्यासी को इनके उत्तर आप ही मिल जाते हैं।

योगियों का कहना यह है कि जो अन्तिम सत्य है वह अनुभव किया जा सकता है पर न तो मनन का विषय बनाया जा सकता है न शब्दों में वर्णन किया जा सकता है। इसलिए उसके सम्बन्ध में

जो कुछ भी कहा जायगा वह अपूर्ण और भ्रामक होगा। परन्तु वह कहते हैं कि उस पूर्णावस्था तक पहुँचने के पहले कई भूमिकाओं को पार करना पड़ता है जिनमें विचित्र शब्दों और प्रकाशों, अकल्पित लोकों और शक्तियों का अनुभव होता है। योगी को विभूतियाँ भी प्राप्त होती हैं, अर्थात् वह ऐसे काम कर सकता है जो दूसरों के सामर्थ्य के बाहर हैं।

अब यदि यह सब दावा झूठा है तो कुछ कहना नहीं है पर झूठा कहने का अधिकार उसी को है जो इस मार्ग पर चल चुका है। यदि सच्चा है तो कई प्रश्न उपस्थित होते हैं। चित्त को अन्तर्मुख करने से अर्थात् इन्द्रियों को बाहरी विषयों से विमुक्त कर देने से जगत् का ज्ञान कैसे होता है? क्या जगत् चित्त के भीतर है? जब चित्त की वृत्ति निरुद्ध हो जाती है तब कौन किसका कैसे अनुभव करता है? योगी जिन शब्दादि का अनुभव करता है वे क्या हैं? विभूतियाँ कैसे प्राप्त होती हैं?

× × × ×

समन्वय की आवश्यकता

हमने विभिन्न विज्ञानों का जो सिंहावलोकन आरम्भ किया था वह समाप्त हुआ। वह इतना संक्षिप्त था कि उसका सारांश तो किया नहीं जा सकता। हमने यह देखा कि प्रत्येक शास्त्र अपने विषय पर, जो सत्य का एक अंश है, प्रकाश डालता है परन्तु पदे-पदे शङ्कायें उपस्थित होती हैं। इनमें से कई तो इसी लिए पैदा होती हैं कि प्रत्येक विज्ञान का क्षेत्र पृथक् मान लिया गया है, यद्यपि वस्तुतः यह पार्थक्य

कल्पित है। दिक् और काल का विचार भौतिक विज्ञान, गणित, मनोविज्ञान और योगशास्त्र में आता है। चेतनता जीवशास्त्र, मनोविज्ञान और योगशास्त्र में अध्येतव्य है। गणित, भौतिक विज्ञान और योगशास्त्र तीनों ही भौतिक जगत् के मूल-स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं। यदि चरम सिद्धान्तों पर दृष्टि डाली जाय तो यह प्रश्न उठेंगे—क्या जिस मूल शक्ति का भौतिक विज्ञान प्रतिपादन करता है वह वही पदार्थ है जो मनोविज्ञान में चेतना और जीवशास्त्र में जीव के रूप में हमारे सामने आती है? क्या योगी को इसी का अनुभव होता है? क्या योगी अन्तःकरण को एकाग्र करके दिक्काल और सम्बन्धों को, जो अन्तःकरण के ही धर्म्म और प्रसूति हैं, अपने ज्ञान का विषय बनाता है और इस प्रकार जगत् के रहस्य को बोधगम्य करता है? क्या वह चित्त की वृत्तियों को निरुद्ध करके इस जगत् का अतिक्रमण करता है? क्या कोई एक सत्य वस्तु है जो नाना होकर हमको प्रतीत हो रही है? यदि यही बात है तो उस एक पदार्थ का स्वरूप क्या है?

यदि सब शास्त्रों का समन्वय किया जा सके तो इन प्रश्नों का और इन्हीं की भाँति एतद्विषयक अन्य प्रश्नों का उत्तर दिया जा सकता है। शंका के समाधान से एक तो चित्त का कुतूहल मिटेगा और उसको शान्ति मिलेगी, दूसरे हम अपनी व्यवहार-सरणि निश्चित कर सकेंगे। दर्शन समन्वय-शास्त्र है, उसका विषय सत्य है। वह सत्य का अन्वेषण करता है और यह दिखलाता है कि सत्य और प्रतीति में क्या सम्बन्ध है और क्यों भेद है। वह प्रसङ्गतः सब दूसरे शास्त्रों के परस्पर सम्बन्ध का भी नियमन करता है। चूंकि उसका

विषय सत्य और प्रतीति का वर्णन-मात्र नहीं है प्रत्युत सत्य का अनुभव, साक्षात्कार भी है, इसलिए योगशास्त्र भी उसके अन्तर्गत है। इतना कहने के बाद दर्शन के अध्ययन की उपयोगिता के सम्बन्ध में कुछ और कहने की आवश्यकता न रहनी चाहिए। ऐसी श्रेयस्करी विद्या को परम विज्ञान कहना सर्वथा उचित है।

पश्चिम में दर्शन का विषय सत्य का वर्णन-मात्र माना जाता है इसलिए उसके अध्ययन का मुख्य साधन तर्कशास्त्र होता है। भारत के दार्शनिक साक्षात्कार को भी दर्शन का विषय मानते हैं। वह कहते हैं कि जब तक सत्य का साक्षात्कार न हो तब तक दार्शनिक ज्ञान कच्चा है। इसलिए योगाभ्यास भी दार्शनिक अध्ययन के अन्तर्गत माना जाता है। पश्चिम के मत से अच्छे दर्शन पढ़ानेवाले को सर्वशास्त्रवित् सुतार्किक होना चाहिए; भारतीय मत से उसको बहुश्रुत होने के साथ ही सत्य साक्षात्कृत् अर्थात् योगी भी होना चाहिए। जो जिज्ञासु होगा उसको उपयुक्त उपदेष्टा और पथप्रदर्शक मिल ही जायँगे।

कुछ अद्वैतमूलकवाद

मैंने समन्वय की आवश्यकता का उल्लेख तो किया पर समन्वय किस प्रकार हो सकता है इसकी ओर कोई संकेत नहीं किया। विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्त समन्वय के ही प्रयत्न हैं। मैं यहाँ उदाहरण के लिए दो-तीन का, जो औरों की अपेक्षा इस दिशा में अधिक सफल हुए हैं, ज़िक्र करता हूँ।

यह हो सकता है कि जगत् का कोई मूल न हो, वह शुद्ध

अविद्यात्मक हो। अज्ञान ही द्रष्टा और दृश्य के रूप में प्रतीत होता हो और उसके निवृत्त होने पर कुछ भी अवशिष्ट न रहे। इस मत से जगत् सर्वथा मिथ्या है।

यह भी हो सकता है कि जगत् के मूल में कोई एक अचित् जड़ पदार्थ हो। वह पदार्थ नित्य है। वह अपने स्वभाव के कारण, जो उससे अभिन्न है, स्पन्दनशील है और इसी स्पन्दन से उसमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इसी परिणामशीलता के कारण वह एक से नाना हुआ और नानात्व ने जगत् का रूप धारण किया। जैसे क्रमविकास-द्वारा उसमें से रासायनिक तत्त्व, और फिर मिश्र भूत निकले, वैसे ही विशेष अवस्थाओं में चेतना भी प्रादुर्भूत हुई। उस मूल कारण के सब कार्य एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। बाह्य जगत् से अन्तःकरण प्रभावित होता है। धर्माधर्म के विचार, उपासना, राजनीतिक सिद्धान्त, दण्डविधान, ये सभी बाहरी परिस्थितियों के परिणाम हैं और बाहरी परिस्थिति पर मनुष्य की चेतना का प्रभाव पड़ता है। चेतना तो मनुष्येतर प्राणियों में भी है परन्तु शिक्षा और संस्कृति से पूत मानव-चेतना का रूप प्राप्त करके ही यह अचित् पदार्थ जगत् रूप में अपने आपको जान सकता है। यह कहना अनावश्यक है कि इस मत के अनुसार न पुनर्जन्म होता है, न परलोक है, न उपासना के लिए कोई स्थान है। जगत् सत्य है अर्थात् उसका अस्तित्व है।

दूसरा मत यह है कि जगन्मूल एक शुद्ध, चेतन पदार्थ है। वह अनन्त ज्ञान और शक्तिसम्पन्न है। अपनी इच्छा से, केवल लीला के लिए, वह अपने से नानात्व का विस्तार करता है। नाना होने पर

वह भोक्ता और भोग्य दो रूप धारण करता है पर इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसका मूल शुद्धरूप नष्ट हो जाता है। भोग्य और भोक्ता होने के साथ-साथ उसका मूलरूप बना रहता है और उसकी अखण्डता में कोई कमी नहीं आती। ऋत, अचूक नियमशीलता, उसका स्वभाव है। भोक्ता, द्रष्टा, ज्ञाता रूप से जीवपद वाच्य होकर वह अनेक शरीरों में घूमता है और विविध लोकों में निवास करता है। भोग्य, दृश्य, ज्ञेय रूप से वही विद्युदादि शक्ति है, वही तत्त्व है, वही मिश्र है, वही ज्ञान, भोग और दर्शन का साधन अन्त:करण है। वही उपास्य है और वही उपासक है। जब अपनी लीला का संवरण करता है तब जगत् अपने उसी मूल सत्स्वरूप में विलीन हो जाता है। परन्तु जब तक ऐसा नहीं होता तब तक जगत् रहता है, उसका वस्तुत: अस्तित्व है।

एक और सिद्धान्त है। जगन्मूल चिन्मात्र है, एक, अद्वय है। दिक्कालादि से परे है, अवर्णनीय है, क्योंकि बुद्धि और वाणी की गति उन्हीं पदार्थों तक होती है जो परिच्छिन्न होते हैं। उसको सर्वज्ञ नहीं कह सकते क्योंकि ज्ञातृत्व तो तब हो जब ज्ञान का कोई विषय हो। उसकी चिन्मात्र सत्ता का ही रूप आनन्द है। उसमें इच्छा का अभाव है क्योंकि इच्छा वहाँ होती है जहाँ अपूर्णता होती है। इस सद्वस्तु का स्वभाव, जो इससे अभिन्न है, माया है। माया अभिन्न होते हुए भी भिन्नरूपा अचिन्मात्र है। माया और सद्वस्तु का सम्बन्ध कुछ ऐसा है जैसा कि पत्र के एक पृष्ठ का दूसरे पृष्ठ के साथ, माया के कारण उस सद्वस्तु में नानात्वमय जगत् की, द्रष्टा, भोक्ता, ज्ञाता, कर्त्ता जीव की और प्रकृति की, प्रतीति होती है। जब तक जीव

अज्ञानमयी माया के पाश में बँधा रहता है तब तक उसके लिए जगत् सत्य है। जब शास्त्र-विचार और अनुचिन्तन से सत्य का स्वरूप निश्चय कर लिया जाता है और योगाभ्यास-द्वारा उसका साक्षात्कार हो जाता है तब इस भ्रान्ति का नाश हो जाता है, संसार विलीन हो जाता है और वही अद्वय पदार्थ (अपने स्वरूप में स्थित, केवल अवशिष्ट रहता है)।

प्रत्येक जिज्ञासु को इन, तथा इनके जैसे अन्य, मतों पर विचार करना चाहिए। अनेक प्रश्न उठते हैं—जड़ से चेतन की उत्पत्ति कैसे होती है ? उत्पन्न होकर क्या चेतन नष्ट हो जाता है ? जो पूर्ण है उसमें लीला करने की इच्छा क्यों हुई? लीला-संवरण करने की इच्छा क्यों होती है ? यदि उसको लीला-जगत् रचना ही पड़ता है तो वह स्वतंत्र है या परतंत्र ? माया चिद्वस्तु से भिन्न-भिन्न कैसे है ? चित् का स्वभाव अचित् कैसे होता है ? ज्ञान किसको होता है ? इन प्रश्नों का जिस मत से ठीक-ठीक उत्तर मिल सके, फिर जो मत विभिन्न विज्ञान-शास्त्रों का समन्वय करने में समर्थ हो वही ठीक होगा। उसी की नीव पर हमको अपने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन के दृढ़ प्रासाद का निर्माण करना है।

ॐ मृत्योर्माऽमृतङ्गमय

द्वितीयखण्ड

शिवम्

१

सदाचार का हेतु और आचार का दायित्व

घर पर और पाठशाला में लड़कों को सदाचार की शिक्षा दी जाती है। इस शिक्षा का रूप होता है—अमुक-अमुक काम करो, अमुक-अमुक काम मत करो। जो काम करणीय हैं वे सत्कर्म्म, अच्छे काम, और जो अकरणीय हैं वे दुष्कर्म्म, बुरे काम, कहे जाते हैं। अच्छे काम करनेवाले का समादर और बुरे काम करनेवाले की अप्रतिष्ठा होती है। यदि कोई विद्वान् या धनवान् या अधिकारारूढ़ व्यक्ति भी प्रायः दुष्कर्म्मरत रहता हो तो लोग उसकी निन्दा करते हैं और यदि कोई अशिक्षित, निर्धन, साधारण सामाजिक स्थिति का मनुष्य भी सदाचारी होता है तो वह सम्मानभाजन बन जाता है।

पुण्य-पाप, दण्डविधान और सदाचार

वेदादि धर्म्म-पुस्तकों और सम्प्रदाय-प्रवर्तक महात्माओं के उपदेशों में भी करणीय, अकरणीय कामों की चर्चा रहती है। इनमें से बहुत से करणीय काम तो वही हैं, जो सदाचार के अन्तर्गत हैं, कुछ इनके अतिरिक्त होते हैं। इसी प्रकार अकरणीय कामों में भी बहुत-से तो वही हैं जो सदाचारविरुद्ध अर्थात् दुराचार की कोटि में परिगणित हैं, शेष इनके अतिरिक्त होते हैं। धार्म्मिक परिभाषा में करणीय काम पुण्यकर्म्म, अकरणीय काम पापकर्म्म हैं। अहिंसा, सत्य,

अस्तेय सदाचार में भी परिगणित हैं और पुण्यकर्म्म भी हैं परन्तु शिवरात्रि-व्रत, गायत्री-जप, अग्निष्टोम आदि ऐसे पुण्यकर्म्म हैं जिनका साधारण सदाचार से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार मिथ्या भाषण, परधनापहरण, परस्त्री या परपुरुष से यौन सम्बन्ध दुराचार भी हैं और पाप भी हैं परन्तु प्रातः-सायं संध्या न करना केवल पाप-कोटि में है। क्या सदाचार है और क्या दुराचार इसका निर्णय लोकमत किया करता है; मनुष्य ऐसा समझता है कि इस प्रश्न का निर्णय करने की क्षमता उसमें है। परन्तु पुण्य-पाप का निर्णय किन्हीं अदृश्य और साधारणतः अज्ञेय शक्तियों पर छोड़ा जाता है। जब कभी धर्म्म की आज्ञा लोकमत का समर्थन करती है, तब लोकमत अपने को बहुत ही पुष्ट अनुभव करता है।

जो बातें दुराचार में परिगणित हैं उनमें से कुछ को प्रचलित क़ानून भी अकरणीय घोषित करता है परन्तु बहुत-सी बातें जिनको क़ानून अकरणीय मानता है वे आचार के क्षेत्र के बाहर हैं। पराई सम्पत्ति का अपहरण दुराचार भी है और क़ानून की दृष्टि से गर्हित और दण्ड्य भी है परन्तु सड़क के दाहिनी ओर चलना क़ानून में बुरा होते हुए भी दुराचार नहीं माना जाता। कभी-कभी तो क़ानून के विरुद्ध चलना सदाचार की पराकाष्ठा मानी जाती है।

इस सम्बन्ध में दो-तीन प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला तो यह कि सदाचारी क्यों हों, क्यों अच्छे काम करें? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या हम कर्म्म करने न करने के सम्बन्ध में स्वतंत्र हैं? और तीसरा प्रश्न यह है कि अच्छा काम कहते किसको हैं, अच्छे काम के लक्षण क्या हैं? यों तो यह सभी प्रश्न अन्योन्याश्रित हैं और मिथःसम्बद्ध

हैं, फिर भी यथासम्भव पृथक् मानकर विचार करने का प्रयत्न करना चाहिए।

सदाचारी क्यों हों ?

(क) धर्म्माज्ञा

सदाचार की ओर खिंचने का एक कारण यह हो सकता है कि सदाचार धर्म्म है अर्थात्, ईश्वर, श्रुति या धर्म्माचार्य्य से अनुमोदित या आज्ञप्त है; दुराचार से बचने का कारण यह हो सकता है कि वह अधर्म्म है अर्थात्—ईश्वर, श्रुति या धर्म्माचार्य्य ने उसका निषेध किया है। सभी सम्प्रदायों की यह शिक्षा है कि धर्म्म का अनुसरण करनेवाला पुरस्कृत, अधर्म्म का अनुसरण करनेवाला दण्डित होता है। कुछ पुरस्कार तो मरने के बाद स्वर्गादि में और दण्ड नरकादि में मिलता है, शेष पुरस्कार और दण्ड यहीं मिलता है। धर्म्म ही जगत् को धारण करता है और ईश्वर, देवगण, सिद्धपुरुष, साधु-महात्मा, सभी पुण्यात्मा से प्रसन्न और पापात्मा से अप्रसन्न होते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि कुछ लोग इन्हीं कारणों से सदाचार में प्रवृत्त और दुराचार से विरत होते हैं परन्तु इनको कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निश्चय का आधार बनाने के पहले कई बातें विचारणीय हैं। पहले तो इस बात का पूरा निश्चय हो जाना चाहिए कि ईश्वर और धर्म्म की सत्ता है, जो पुस्तक श्रुति मानी जाती है वह सचमुच आप्तवाक्य है, जो महात्मा धर्म्मप्रवर्त्तक थे वे वस्तुतः सत्य के ज्ञाता थे और साथ ही, यथार्थवक्ता थे। इस बात का भी निश्चय होना चाहिए कि

सचमुच ईश्वर या धर्म्म की वही आज्ञा है जिसे हम पुण्य-पाप या लौकिक व्यवहार के लिए सदाचार-दुराचार कहते हैं। इस बात का भी निश्चय होना चाहिए कि परलोक है और मरने के बाद पुरस्कार या दण्ड मिलता है। सबसे बढ़कर निश्चय इस बात का होना चाहिए कि मरने के बाद सुख-दुःख भोगनेवाला आत्मा रहता भी है। मरने के बाद यदि सुख-दुःख मिलता भी है, तो क्या यह ज्ञान रहता है कि यह अनुभव मुझे अपने किये हुए कामों के फलस्वरूप हो रहा है? मरने के बाद की बात पर इसलिए ज़ोर देना आवश्यक है कि इस जीवन में तो बहुतों को सदाचार का पुरस्कार और दुराचार का दण्ड नहीं मिलता। न जाने कितने भले आदमी जीवन भर दुखी रहते हैं, न जाने कितने पातकी सुख की नींद सोते हैं। इससे यह तो स्पष्ट है कि यदि ईश्वर है तो उसकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता बहुत देर में, बहुधा इस जीवन के बाद, प्रकट होती है और धर्म्म का चक्र बहुत धीरे घूमता है। ऐसा क्यों होता है, यह हम न समझ सकते हों परन्तु केवल इस शरीर के अनुभव तो इस बात का समर्थन नहीं करते कि धर्म दैवी शक्तियों को इतना सम्मत है कि वे अधर्म्म का सहन नहीं कर सकतीं।

यदि किसी प्रकार यह निश्चय भी हो जाय कि ईश्वर, आत्मा और परलोक की सत्ता है तो भी यह निश्चय नहीं होता कि अमुक-अमुक आचरण धर्म्मसम्मत हैं। धर्म्म और ईश्वर के नाम पर परस्पर विरोधी बातों का उपदेश दिया जाता है। इनमें से कौन-सी मान्य है? जब ईश्वर या धर्म्म की आज्ञा निर्विवाद रूप से ज्ञात ही नहीं है तब वह कर्म्म के औचित्यानौचित्य की कसौटी कैसे हो सकती है?

फिर मान लीजिए कि ईश्वर या धर्म्म की आज्ञा ज्ञात है, तब भी हम क्यों इस आज्ञा को मानें ? क्या इसलिए कि न मानने से ईश्वर अप्रसन्न होगा ? ईश्वर को प्रसन्न करने की चिन्ता क्यों की जाय ? इसलिए कि अन्यथाचरण में दण्डित होने की आशङ्का है ? पर क्या पुरस्कार के लालच और दण्ड के भय से जो काम किया जाता है, उसकी प्रशंसा करनी चाहिए, उसको सदाचार कह सकते हैं ? यदि किसी को यह आज्ञा दी जाय कि अपनी आधी सम्पत्ति दान कर दो नहीं तो फाँसी दी जायगी और वह फाँसी के डर से दान कर दे तो क्या उसे दाता कहा जायगा या उसका दान प्रशंसा के योग्य होगा ? जो लोग सरकारी अहलकारों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से सार्वजनिक सेवा करते हैं उनका तो लोग आदर नहीं करते।

जो मनुष्य आज्ञा मानकर किसी काम को करता है वह उस काम को महत्त्व नहीं देता, आज्ञा देनेवाले की ओर आँख लगाये रहता है। आज आज्ञा है कि सच बोलो, कल इसके विपरीत आज्ञा निकल जाय तो झूठ भी बोला जायगा। यदि यह निश्चय हो जाय कि अमुक काम करने से ईश्वर अप्रसन्न नहीं होगा, या इसके लिए परलोक में दण्ड का कोई विधान नहीं है तो फिर वही काम यथावसर करणीय हो जायगा। यह तो अच्छी कसौटी नहीं हुई। यदि दूसरे प्रमाणों से हम सत्कर्म्म का स्वरूप स्थिर कर सकें और यह निश्चित कर सकें कि इस प्रकार के काम हमारे लिए अवश्य कर्त्तव्य हैं, यदि इसके साथ ही यह भी निश्चित हो जाय कि धर्म्म उन्हीं कामों की आज्ञा देता है जो स्वतः, बिना धर्म्म के बतलाये भी, करणीय होते हैं तो यह हो सकता है कि किसी विशेष अवसर पर हम लम्बा

विचार करने के श्रम से बचने के लिए धर्म्माज्ञा का अनुसन्धान करके कर्त्तव्य निश्चय कर लें।

(ख) लोकमत और सामाजिक जीवन की पुष्टि

यह कहा जा सकता है कि लोकमत सदाचार का समर्थन करता है इसलिए हम उसका आचरण करते हैं पर यह उत्तर भी सन्तोषजनक नहीं है। पहले तो लोकमत कभी एक बात का अनुमोदन करता है, कभी उसका विरोध करता है। विधवा-विवाह कभी और कहीं निर्दोष है, कभी और कहीं व्यभिचार के समान ही निंद्य है। इससे जो मनुष्य एक दृष्टि से सदाचारी है वही दूसरी दृष्टि से दुराचारी हो जायगा। फिर तो अलग-अलग मनुष्यों के मुँह में इन शब्दों के अलग-अलग अर्थ होंगे, दूसरी आपत्ति यह है कि लोकमत को कसौटी मानने का अर्थ है लोकमत को प्रसन्न रखने का प्रयत्न। यहाँ वही प्रश्न खड़ा होता है—हम क्यों लोकमत का अनुसरण करें? इसलिए कि जिससे लोग प्रसन्न होते हैं उसको धन, सम्मान आदि से पुरस्कृत करते हैं और जिससे अप्रसन्न होते हैं उसको शारीरिक पीड़ा, असम्मान आदि से दण्डित करते हैं? यदि इतनी ही बात है तो यह कहना पड़ेगा कि लोभ और भय की प्रेरणा से किये गये काम प्रशंसा के योग्य नहीं होते। एक और बात है। ऐसे वैभवशाली लोग भी हैं जिनका लोकमत कुछ बना-बिगाड़ नहीं सकता। ऐसे अधिनायक और नरेश हैं और हो गये हैं जिनकी आज्ञा उनके अधिकार-क्षेत्र में निर्बाध है। उनको किसी पुरस्कार की लालसा नहीं है, किसी दण्ड का भय नहीं है। क्या वे सदाचार के नियमों से मुक्त हैं?

सदाचार हो या दुराचार, आचार समाज में ही होता है। यदि प्रत्येक मनुष्य स्वतन्त्र हो, एक का दूसरे से कोई बन्धन न हो, तो फिर कौन-सा काम अच्छा है, कौन बुरा है यह प्रश्न ही नहीं उठता। अपनी यौन प्रवृत्ति को सन्तुष्ट करने, बच्चों का पोषण करने या पारस्परिक रक्षा के लिए पशु-पक्षी थोड़ा-बहुत साथ रहते हैं और इस सहयोग और सहवास-काल में कुछ नियमों का पालन भी करते हैं। जो इन नियमों के प्रतिकूल जाता है उसे मार भगाते हैं। फिर भी इनके आचरण के सम्बन्ध में प्रायः सदाचार शब्द का प्रयोग नहीं होता, क्योंकि इस बात को निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है कि इनके काम कहाँ तक बुद्धिपूर्वक होते हैं। परन्तु मनुष्य-समाज एक सुसंगठित संस्था है। सम्भव है। बहुत पहले मनुष्यों को समाज की सबसे बड़ी उपयोगिता रक्षा में सहयोग के रूप में ही देख पड़ी हो पर आज तो आपस के सम्बन्ध बहुत जटिल हैं। हम एक दूसरे के साथ साम्प्रदायिक, राजनीतिक, आर्थिक बन्धनों से बँधे हुए हैं। एक मनुष्य के कामों का दूसरों के कामों पर, दूसरों के जीवन पर, गहरा प्रभाव पड़ता है। ऐसा देख पड़ता है कि जिन कामों की गणना सदाचार में होती है प्रायः उनसे समाज के जीवन को पुष्टि मिलती है और दुराचार से उसमें दुर्बलता आती है। सच बोलना सदाचार है। यदि सब लोग झूठ बोलने लगें तो कोई किसी का विश्वास ही न करे और किसी प्रकार का व्यवहार न हो सके। अधिकांश मनुष्य सच बोलते हैं और यह समझते हैं कि दूसरे भी सच बोलते होंगे, इसी लिए थोड़े-से लोगों को झूठ बोलने से लाभ होता है। ऐसा कहा जाता है कि समाज नागरिकों के एक प्रकार के समझौते का परिणाम है।

कभी बैठकर समझौता हुआ या नहीं परन्तु व्यवहार ऐसा ही है कि जैसे समझौता हो गया हो कि आओ, हम लोग मिलकर रहें। अब यदि मिलकर रहने से सबको कष्ट हो, सबकी सब इच्छायें अवरुद्ध रहें, तो समझौता टूट जायगा। इसलिए कुछ ऐसे व्यावहारिक नियम बन गये हैं जिनका पालन करने से सबको आराम मिलता है, यद्यपि अपनी स्वच्छन्दता पर कुछ रुकावट तो पड़ती ही है। तो यह जो बर्त्ताव के लिए व्यावहारिक नियम बन गये हैं ये ही सदाचार हैं। इनके अनुसार चलने से समाज का जीवन सम्भव है। इनके विरुद्ध चलनेवाला दुराचारी है—उसके कामों के फलस्वरूप समाज का संघटन टूटता है।

इसका निष्कर्ष यह निकला कि हमको सदाचार का पालन इसलिए करना चाहिए कि ऐसा करने से समाज स्थिर रह सकता है। पर यहाँ कई शङ्कायें उठती हैं। यदि समाज एक प्रकार का समझौता है तो वह मुझे उसी समय तक बाँध सकता है जब तक मैं उसे मानना चाहूँ। समझौते से जो कुछ लाभ होते हों यदि मैं उनको पर्य्याप्त या उपादेय न समझूँ तो फिर समझौते को क्यों मानूँ? यदि मुझे समाज में सुख नहीं मिलता तो समाज में न रहूँगा। ऐसी दशा में मेरा समाज पर कोई स्वत्व न रह जायगा परन्तु समाज में प्रचलित सदाचार-दुराचार के नियम भी मुझको बाँध न सकेंगे। इसका अर्थ यह निकला कि मैं उस दशा में कर्त्तव्याकर्त्तव्य के बन्धन से मुक्त हो जाऊँगा।

इतना ही नहीं एक और शंका भी उठती है। मैं समाज का अङ्ग क्यों रहूँ, समाज के जीवन को क्यों पुष्ट करूँ? यदि यह कहा जाय

कि समाज की पुष्टि में सबका, अर्थात् मेरा और दूसरों का, हित होता है, तो मैं दूसरों के हित की चिन्ता क्यों करूँ ? यदि इसका उत्तर यह दिया जाय कि दूसरों के हितसाधन के बिना अपना हित भी सिद्ध नहीं होता, तो इसका तात्पर्य्य यह निकला कि मेरे लिए एक-मात्र महत्त्व मेरे अपने हित की है। मेरा लक्ष्य अपना हित है—दूसरों का हित इसी लिए देखना पड़ता है कि वह मेरे हित का साधन है। यदि यह बात है तो सदाचार मेरे लिए एक कामचलाऊ नीति है। यदि मैं यह देखूँ कि दूसरों का अहित करके भी मैं अपना हितसाधन कर सकता हूँ तो फिर मैं सदाचार-नीति को त्याग सकता हूँ। किस समय मेरे हित का साधन सदाचार से होगा और किस समय तथा कथित दुराचार से, यह मेरी बुद्धि की प्रखरता और परिस्थिति पर निर्भर करेगा।

यह तर्क भी सदाचार की जड़ को काट देता है क्योंकि इसके अनुसार सदाचार केवल समयोपयोगी नीति रह जाता है। यह दूसरी बात है कि यह नीति बहुधा सफल होती है पर इसके लिए कोई नित्य आधार नहीं है। नित्य आधार तो तब मिल सकता है जब किन्हीं अन्य प्रमाणों से हमारे हित का वास्तविक और नित्य रूप स्थिर हो और यह भी सिद्ध हो कि हमारा यह सत्यहित दूसरों के हित से सर्वथा सर्वदा अभिन्न है; दूसरे शब्दों में, यह बात प्रमाणित हो कि जिनको हम केवल अपना हित समझते हैं, जो दूसरों के हितों से टकराते रहते हैं, वे हित हैं ही नहीं।

(ग) प्रेय

सदाचारी होने के पक्ष में कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि

मुझे सदाचार अच्छा लगता है, मेरे हृदय को सत्यादि व्यवहार प्यारा लगता है; यह कारण भी पर्य्याप्त नहीं है। यदि हृदय को भला लगने से ही कोई काम करणीय हो सकता है तो जुआरी के लिए जुआ खेलना, मद्यप के लिए मद्यपान, कामी के लिए परस्त्रीगमन भी सदाचार है। फिर तो वही अनवस्था हो जायगी कि जो एक के लिए सदाचार होगा वह दूसरे के लिए दुराचार होगा। अतः अच्छा लगना-मात्र पर्याप्त नहीं है। बुद्धि से, दूसरे प्रमाणों से, यह निश्चित होना चाहिए कि जो हमको अच्छा लग रहा है वह सचमुच करणीय है। यदि बिना ऐसा निश्चय किये हम केवल अपनी प्रवृत्तियों को ढीली लगाम दे देंगे तो इस बात की भी सम्भावना है कि एक दिन वह हमारे लिए ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दें जो कि हमको बहुत बुरी लगे।

इस थोड़े-से विचार से एक बात स्पष्ट हो गई होगी। हम सदाचारी क्यों रहें, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर तब ही दिया जा सकता है जब पहले सदाचार का स्वरूप निश्चित हो जाय। अन्यथा, हम कोई भी कारण देते हैं, थोड़ी देर के बाद वह हमको निराश्रय छोड़ देता है।

क्या हमारा संकल्प स्वतंत्र है ?

सदाचार के स्वरूप का विचार करने के पहले, एक और प्रश्न पर भी ध्यान देना चाहिए। सदाचारी की प्रशंसा होती है, उसको इहलोक में पुरस्कार मिल सकता है और, यदि धर्म्मोपदेश सच कहते हैं, तो परलोक में या अगले जन्म में तो अवश्य ही पुरस्कार मिलेगा। इसी प्रकार, दुराचारी की निन्दा होती है, उसको इहलोक में भी कभी-

कभी दण्ड मिलता है, और धर्म्माचार्य्यों के अनुसार, परलोक या किसी भावी जन्म में तो दण्ड मिले बिना नहीं ही रहता।

अब स्तुति, निन्दा, पुरस्कार, दण्ड—चाहे पुरस्कार और दण्ड देनेवाला लोकमत हो, राजव्यवस्था हो या कोई दिव्य, अपौरुषेय शक्ति हो—तभी न्याय्य हो सकता है जब पहले यह निश्चय हो जाय कि मनुष्य अपने कर्म्मों के लिए दायी है और दायित्व तभी हो सकता है जब मनुष्य इस बात में पूर्णतया स्वतंत्र हो कि जो चाहे करे। प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य वस्तुतः स्वतंत्र है?

जिससे बलात् कोई काम कराया जाता है उसको छोड़कर और सभी लोग यह समझते हैं कि वे अपनी इच्छा के अनुसार काम करते हैं। एक जगह दो सड़कें मिलती हैं—एक दाहिने जाती है, एक बायें। मैं दाहिनी सड़क पर अपनी इच्छा से चलने लगता हूँ। घर पर बैठा हूँ। एक विचार हुआ कि दुर्गा जी का दर्शन कर आऊँ, दूसरा विचार हुआ कि गङ्गा किनारे घूम आऊँ, तीसरा विचार हुआ कि सिनेमा देख आऊँ। मैं इनमें से किसी एक के अनुसार काम कर सकता हूँ या सबको छोड़कर घर बैठा रहूँ। अन्त में सिनेमा जाता हूँ, क्यों? अपनी इच्छा से। कोई मुझसे किसी जगह जाने का रास्ता पूछता है—मैं चाहूँ तो चुप रहूँ, चाहूँ ठीक रास्ता बताऊँ, चाहूँ ग़लत उत्तर दूँ। पर मैं अपनी इच्छा से उसे सही रास्ता बतला देता हूँ। इसी प्रकार अन्य अवसरों पर भी हम सबको, सदाचरणरत और दुराचरण-रत दोनों प्रकार के मनुष्यों को, ऐसा प्रतीत होता है कि हम जो काम करते हैं अपनी इच्छा से करते हैं। यदि यह प्रतीति ठीक है तो हमारा दायित्व पूरा है।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या हम इच्छा करने में स्वतंत्र हैं ? क्या यह हमारे अधिकार की बात है कि किस समय कौन-सी इच्छा करें ? क्या यह सम्भव था कि मैं बाईं सड़क पर जाने की, या घर बैठे रहने की या ग़लत पता बताने की इच्छा करता ? यह प्रश्न आश्चर्य्य-जनक हो सकता है परन्तु निर्मूल नहीं है। कोई भी मनुष्य शून्य में काम नहीं करता। वह जिस देश, जिस राष्ट्र, जिस कुल में पैदा हुआ है, जैसे मा-बाप, भाई-बहनों के बीच में पला है, जैसे शिक्षालयों में पढ़ाया गया है, जिस धार्म्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक वातावरण में रहता है, जैसा पारिवारिक जीवन बिताता है, जैसी उसकी आर्थिक स्थिति है—इन सब बातों का उसके चित्त पर प्रभाव पड़ता है, यह सभी उसके सङ्कल्प को रँगती हैं। जिसके घर में नित्य कलह मचा रहता है उसके चित्त में, बाहर जाने का अवसर मिलने पर, घर पर रहने की इच्छा उठ भी सकती है ? जो अपने भूखे कुटुम्बियों की व्यथा देखते-देखते विक्षिप्त हो रहा है उसकी इच्छा सड़क पर पड़े हुए पाँच पैसों को उठा लेने के सम्बन्ध में वैसी ही होगी जैसी कि लखपती की ? क्या पागल और बालक अपने कामों के लिए पूर्णतया दायी हैं ? क्या वह अनुभव की बात नहीं है कि उसी प्रश्न के विषय में उसी आदमी के निर्णय स्वस्थ और रुग्ण अवस्था में भिन्न प्रकार के होते हैं ?

इन बातों से इतना तो अवश्य ही सिद्ध होता है कि हमारी चित्त की अवस्था पर, अथ च हमारी इच्छा के स्वरूप पर, बहुत-सी बाहरी बातों का प्रभाव पड़ता है। इसी लिए यह प्रश्न उठता है—क्या उस प्रकार के वातावरण और संस्कारों में पले हुए, वैसी शिक्षा पाये हुए, वैसी

आर्थिक और पारिवारिक अवस्था में जीवन बिताते हुए, अमुक-अमुक रोगों से पीड़ित, मनुष्य के लिए किसी दूसरे प्रकार की इच्छा करना सम्भव भी था ? यह कहना कि परिस्थितियों का प्रभाव नहीं पड़ता प्रत्यक्ष अनुभव को झुठलाना है। वही मनुष्य परिस्थिति बदल जाने से दूसरे प्रकार का आचरण करने लगता है। तब फिर कोई मनुष्य इच्छा करने के विषय में उतना स्वतंत्र नहीं माना जा सकता जितना कि वह समझता है। ईश्वर, राज, समाज—जो कोई पुरस्कार या दण्ड देने चले उसको इस बात पर विचार कर लेना चाहिए।

ईश्वर और समाज का दायित्व

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि यह जगत् ईश्वर की सृष्टि है। यदि यह बात ठीक है तो ईश्वर ने ही मनुष्य को पैदा किया; ईश्वर ने ही उसको एक विशेष देश, कुल, समाज, परिस्थिति में भेजा; ईश्वर ने ही उसके लिए एक विशेष प्रकार की आर्थिक और कौटुम्बिक चहारदीवारी खड़ी की; ईश्वर ने ही उसे जन्मान्ध या वात-रोगी या बावला या प्रतिभाशाली बनाया। फिर यह सोचने की बात है कि उसके सत्कर्म्म के लिए पुरस्कार और दण्ड उसको मिलना चाहिए या ईश्वर को। दूसरी ओर वह लोग हैं जो किसी नित्य आत्मसत्ता को नहीं मानते पर इतना प्रत्यक्ष देखते हैं कि व्यक्ति कुछ योग्यता, कुछ क्षमता लेकर पैदा होता है। एक तो यही प्रश्न है कि यह योग्यता कहाँ से आई ? सबमें एक-सी क्यों नहीं होती ? यदि जन्म से पहले की परिस्थितियाँ यह भेद उत्पन्न करती हैं तो अनुसन्धान करके ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित की जायँ जिनमें सभी बच्चे सदाचारी हों,

दुराचार की ओर किसी की प्रवृत्ति ही न हो। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक यह तो मानना ही होगा कि न तो बच्चा अपने मा-बाप को आप चुनता है, न मातृभूमि को, न पाठशाला को। इन बातों का दायित्व उस पर नहीं है। जब तक समाज यह निश्चयपूर्वक न कह सके कि प्रत्येक बच्चे के लिए ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की गई जिसमें उसकी सद्बुद्धि और सत्प्रवृत्ति का विकास हो, उसके लिए बड़े होने पर आजीविका का समुचित प्रबन्ध कर दिया गया, मनोरञ्जन और सांस्कृतिक जीवन के उपकरण एकत्र किये गये, तब तक समाज उसे दण्ड नहीं दे सकता। राज उसे दण्ड नहीं दे सकता। उसके दुराचार का दायित्व समाज और राज पर है।

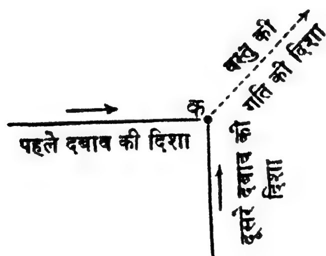
प्रारब्ध और पुरुषार्थ

बहुत-से मनुष्य कर्म्मसिद्धांत और पुनर्जन्म को मानते हैं। इस विश्वास से एक तो मनुष्यों का सहज वैषम्य—किसी का रोगी, किसी का स्वस्थ जन्म लेना, किसी का धनी, किसी का निर्धन के घर पैदा होना, किसी का धीमान्, किसी का जड़ होना—समझ में आता है, दूसरे यह सन्तोष होता है कि अच्छे-बुरे कर्म्म का फल यदि इस जन्म में न मिला तो कभी आगे चलकर मिलेगा, नष्ट नहीं हो सकता। पिछले कर्म्मों के भण्डार को संचित कहते हैं। इनमें से सब तो एक साथ भोगे नहीं जा सकते क्योंकि भोग तो तब हो जब वह दूसरे लोग जिनको भोग में सम्मिलित होना है या जो भोग के साधन बनेंगे उनके भी कर्म्म परिपक्व हों। अतः किसी एक जन्म में संचित कोष में से थोड़े-से ही कर्म्मों के फल भोगे जा सकते हैं। इनको प्रारब्ध

कहते हैं। प्रारब्ध के अनुसार ही बल, बुद्धि, कुल, आयु सारी परिस्थित मिलती है। अतः प्रारब्ध के अनुसार मनुष्य कर्म्म भी करता है। पर यदि मनुष्य प्रारब्ध से बँधा हुआ है तो फिर प्रारब्ध भी ईश्वर की दी हुई क़िस्मत जैसी वस्तु हो गया। फिर तो यह सोचना ठीक ही है कि—

होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा ॥

ऐसी दशा में कोई मनुष्य अपने क्रियमाण कामों के लिए इस जन्म में दायी नहीं ठहराया जा सकता। प्रारब्ध उसके पिछले कर्म्मों का फल है पर अब तो वह प्रारब्ध का ग़ुलाम है। उसको सदाचारी बनने का उपदेश देना व्यर्थ है, दुराचार से बचने की सीख देना निरर्थक है। जो प्रारब्ध करायेगा करेगा। इस अनवस्था से बचने का एक ही उपाय है। यह सोचना चाहिए कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि मनुष्य



प्रारब्ध के वश में पूर्णतया नहीं है। प्रारब्ध तो काम करता ही है पर इसके साथ ही कोई और भी शक्ति है—उसका नाम आत्मशक्ति हो, पुरुषार्थ हो या कुछ और—जो स्वतंत्र है और प्रत्येक काम इन दोनों के संघर्ष का परिणाम है। यदि किसी वस्तु क पर दो ओर से दबाव पड़ रहे हों तो वह दो में से किसी एक की दिशा में न जाकर बीच की

दिशा में जायगी। यदि दोनों दबाव बराबर होंगे तो वह ठीक बीच में जायगी पर यदि एक बलवान् होगा तो उसकी ओर झुकाव होगा। सम्भव है प्रारब्ध और भीतर की उस स्वतंत्र शक्ति में ऐसा ही द्वन्द्व होता हो। साधारणतः प्रारब्ध प्रबल होता है, इसलिए प्रायः परिस्थिति के अनुकूल काम होगा परन्तु कभी-कभी और किसी-किसी में यह दूसरी शक्ति प्रबल होगी। यदि इस शक्ति का अस्तित्व सबमें है तो अपने कामों के लिए सभी थोड़ा-बहुत दायी हैं; जिसमें यह जितनी ही जागृति होगी उसका दायित्व उतना ही अधिक होगा। पर यदि ऐसी कोई शक्ति नहीं है और मनुष्य सर्वथा प्रारब्ध, ईश्वर की इच्छा या बाह्य परिस्थितियों के वश में है तो न वह स्तुति का पात्र है न निन्दा का।

यह प्रश्न बड़े महत्त्व के हैं। प्रत्येक व्यक्ति को यह सोचना है कि मैं क्यों सदाचारी बनूँ और यह भी सोचना है कि मैं सदाचार दुराचार के लिए कहाँ तक दायी हूँ, कहाँ तक कर्म करने और इच्छा करने में स्वतंत्र हूँ। इसके साथ ही राज को, समाज को भी इस पर विचार करना है। यदि लोग वस्तुतः परतंत्र हैं तो विधान दूसरे ही ढङ्ग का होना चाहिए। यदि समाज के संगठन और राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था के अनुसार लोगों की प्रवृत्ति होती है तो पहले इसको ठीक करना चाहिए तब किसी से जवाब तलब करने का अवसर आ सकता है। परन्तु यदि मनुष्य में कोई स्वतंत्र शक्ति है जो परिस्थितियों से लड़ने की क्षमता रखती है तो उसको उद्दीप्त करना चाहिए। शिक्षा का आयोजन, राज की व्यवस्था, सामाजिक और आर्थिक संघटन—इन सभी का स्वरूप इसी उद्देश्य को सामने

रखकर स्थिर करना होगा। राज के दण्ड-विधान का भी बुद्धि और न्याय-संगतस्वरूप इन प्रश्नों के समुचित उत्तर मिलने पर ही निर्भर करता है।

व्यक्तियों के समूह और सदाचार

अभी तक हम व्यक्तियों के आचरण के सम्बन्ध में विचार कर रहे थे पर सदाचार के नियम समूहों के लिए हैं या नहीं? समूह दो प्रकार के होते हैं—एक वर्ग में तो वह सब समुदाय हैं जो राज के भीतर होते हैं। परिवार, राजनीतिक संस्थायें, व्यापारियों की मण्डलियाँ, सांस्कृतिक समितियाँ, साहित्यिक गोष्ठियाँ इसी कोटि में हैं। इनका भी जन्म और मरण होता है, सम्पत्ति होती है। क़ानून की दृष्टि में इनको व्यक्तियों की पदवी प्राप्त है और लोकमत भी इनसे यही आशा करता है कि इनका व्यवहार सौजन्यपूर्ण, सदाचारमय होगा। दूसरे वर्ग में राज हैं। ऐसे भी राज हैं जो किसी दूसरे राज के आधिपत्य में होते हैं पर यहाँ हम स्वतंत्र, पूर्ण प्रभु, राजों की बात सोच रहे हैं।

राज के आचरण का एक भाग तो वह है जो अपने प्रजा-वर्ग के साथ किया जाता है, दूसरा वह जो दूसरे राजों के साथ किया जाता है। प्रजा के साथ नैतिक अर्थात् सदाचारमय व्यवहार किया जाय अथवा नहीं? प्रजा का राज के ऊपर कुछ अधिकार है या नहीं? एक राज का दूसरे राज के साथ जो व्यवहार हो वह स्वेच्छामय हो या सदाचार के नियम के अनुकूल?

राज का प्रजा और दूसरे राज के साथ व्यवहार

इन प्रश्नों का सम्बन्ध राजनीतिशास्त्र से है, अतः हम इन पर विस्तार के साथ विचार नहीं कर सकते। यहाँ बहुत संक्षेप में दिग्दर्शन कराया जा सकता है।

एक मत यह है कि व्यक्ति और राज का सम्बन्ध प्रायः उसी प्रकार का है जैसा कि शरीर और उसके अवयवों का है। शरीर अपने अवयवों से बड़ा है, उसका एक अपना व्यक्तित्व है जो शरीर के कोष्ठ-कोष्ठ में व्याप्त है और सबको नियंत्रित करता है। किसी अवयव का अपना कोई पृथक् महत्त्व नहीं है। प्रत्येक अङ्ग के जीवन की सार्थकता इसी में है कि वह शरीर का अङ्ग है। इसी में उसका गौरव है। शरीर से अलग होकर कोई अवयव जी नहीं सकता। शरीर की तुलना में किसी अवयव का कोई मूल्य नहीं है, अतः यदि शरीर का हित किसी अवयव के काट देने में होता हो तो उसे काटना ही होगा। अवयव शरीर के लिए हैं, शरीर अवयवों के लिए नहीं। इसी प्रकार राज के सामने व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है। उसकी सार्थकता इसी में है कि वह राज के काम आये। राज का अङ्ग होना ही उसका सबसे बड़ा गौरव है। राज की उन्नति से पृथक् उसकी कोई उन्नति नहीं हो सकती। उसका जीवन राज के लिए है, राज उसके लिए नहीं है। उसके कोई स्वतंत्र अधिकार नहीं हैं। जो अधिकार राज दे वह भोग्य होंगे। राज जब चाहे जो अधिकार ले ले। अङ्ग और अङ्गी, कुल और अंश, के बीच में सदाचार का बन्धन नहीं हो सकता, राज जो करता है वही सदाचार है। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा राज के कामों का समर्थन करती है परन्तु लोग

अपनी आत्मा को पहचानते नहीं। लोभ, काम आदि तुच्छ भावनाओं से उत्तम 'स्व' अभिभूत रहता है, इसलिए अधम 'स्व' राज से कभी-कभी असन्तुष्ट हो उठता है। व्यक्ति को राज के विरुद्ध सिर उठाने का अधिकार नहीं है। जब प्रत्येक राज स्वतंत्र है और अपना आप लक्ष्य है तब फिर एक राज दूसरे राजों के हित की चिन्ता क्यों करे ? ऐसी दशा में राजों के परस्पर व्यवहार में सदाचार का कोई बन्धन नहीं है।

यह मत सर्वसम्मत नहीं है। दूसरा पक्ष यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपना आप लक्ष्य है। मनुष्य-जीवन के कुछ उद्देश्य हैं, उनकी पूर्ति अकेले रहकर नहीं हो सकती। मनुष्य के कुछ स्वाभाविक गुण हैं, उनका विकास बहुत-से मनुष्यों के सहवास से ही हो सकता है। सभ्यता और संस्कृति, जिनके द्वारा मनुष्य की मनुष्यता अभिव्यक्त होती है, एकान्तवास में नहीं खिलती। इसलिए मनुष्य समाज में रहना और समाज के बन्धनों को सहना स्वीकार करता है। समाज के अनेक अङ्गों में एक अङ्ग राज भी है। वह मनुष्यों का राजनीतिक संघटन है। वह साध्य नहीं, साधन है। उसकी सार्थकता इस बात में है कि वह उन साधनों में से एक है, जिनके द्वारा मनुष्य अपने जीवन को पूर्ण बना सकता है। इससे अधिक उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। राज की उन्नति व्यक्तियों की उन्नति से पृथक् कोई चीज़ नहीं है। उसका इतना ही काम है कि ऐसी व्यवस्था कर दे जिससे प्रत्येक व्यक्ति यथासम्भव उन्नति कर सके। मनुष्य के मनुष्य होने के नाते कुछ नैसर्गिक अधिकार हैं। वह राज के दिये हुए नहीं हैं और न राज उनको छीन सकता है। जब तक राज मनुष्य के हितों का साधक है, उसके सहज अधिकारों की रक्षा करता है और उन्नति और

विकास में सहायता देता है तब तक तो वह मान्य है; अन्यथा, नागरिकों को उसके विरुद्ध उठने का पूरा अधिकार है। इस मत के अनुसार राज आचरण के उन नियमों से मुक्त नहीं हो सकता जो व्यक्तियों के परस्पर व्यवहार में अच्छे समझे जाते हैं। राज को अपने नागरिकों के साथ सचाई और ईमानदारी बरतनी चाहिए। नागरिक सार्वजनिक हित के लिए सब तरह का त्याग करने को तैयार रहेगा पर इसका अर्थ यह नहीं है कि राज—यानी राज के नाम पर शासकगण—प्रजा के जीवन और सम्पत्ति को अपनी यथेच्छकारिता की सामग्री समझ लें।

एक राज का दूसरे राज के साथ जो व्यवहार होता है वह भी मनमानेपन के आधार पर न होना चाहिए। प्रत्येक राज उस बृहत् मनुष्य-समाज का टुकड़ा है जिसमें रहकर मनुष्य पूरा मनुष्य बनता है। अपने छोटे-से टुकड़े के भीतर तो एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के साथ सदाचार बरते और टुकड़े के बाहर दुराचार बरते, एक जगह सत्य और अस्तेय को ठीक समझे, दूसरी जगह असत्य और परस्वापहरण को अपनाये, यह उचित नहीं है। सारे मनुष्य-समाज के कल्याण में उसके प्रत्येक अंग, यानी प्रत्येक राज और प्रत्येक व्यक्ति का कल्याण है। राजनीति में कुटिलता को स्थान देना पराये का ही नहीं, अपना भी अहित करना है।

व्यक्ति और राज

हर समझदार मनुष्य को इन दो मतों पर विचार करना चाहिए। राजनीति का प्रभाव सबके जीवन पर पड़ता है, इसलिए किसी को इस

ओर से उदासीन न रहना चाहिए। जो व्यक्ति राजनीतिक प्रश्नों से दूर रहना चाहता है उसे भी राज की नीतियों का शिकार बनना पड़ता है। इससे यही अच्छा है कि इन प्रश्नों पर विचार किया जाय और जो मार्ग उचित हो उस पर राज को चलाने का प्रयत्न किया जाय। यदि पहला मत ठीक है तो फिर यह प्रश्न उठता है कि यदि व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार के लिए राज कोई नियम बना दे तो क्या वही सदाचार होगा ? या सदाचार की कोई और भी कसौटी होगी ? दूसरे शब्दों में, क्या सदाचार क़ानून का अनुगामी होगा ? राज की आज्ञा तो सरकार की, शासन में ऊपर के एक-दो व्यक्तियों की, आज्ञा होगी। यह समय-समय पर बदलती रहेगी। यह काल्पनिक बात नहीं है। भूखे को अन्न देना सामान्यतः सदाचार माना जाता है परन्तु जर्मनी में यहूदियों को भूखों मारना ही सदाचार है। तो क्या राज या सरकार या ऊपर के शासकों की इच्छा के साथ सदाचार भी बदलता रहेगा ? यदि दूसरा मत ठीक है, तो यह जानना आवश्यक है कि मनुष्य के हित क्या हैं, और उसे किस अवस्था में इस हित की रक्षा के लिए राज के विरुद्ध विद्रोह करना चाहिए ? प्रथम मत का दृढ़ आधार यह है कि व्यक्तियों का उत्तम 'स्व' राज का समर्थक होता है। इसलिए यह निश्चय होना चाहिए कि हममें कोई उत्तम 'स्व' है भी या नहीं और यदि है, तो वह सचमुच राज की प्रत्येक बात का समर्थक है या नहीं। दूसरे मत की तह में यह धारणा है कि व्यक्ति का हित मनुष्य-मात्र के हित से अभिन्न है। प्रत्येक नागरिक को इन बातों का निर्णय करना चाहिए। और निर्णय के अनुसार राज की नीति को प्रभावित करने में यत्नशील होना चाहिए, अन्यथा वह सफल

नागरिक नहीं हो सकता। राज के शासक जो कुछ करते हैं वह सारे नागरिकों के नाम पर और सारे नागरिकों की विभूतियों, जन-बल, बुद्धि-बल और धन-बल के भरोसे पर करते हैं। अतः अन्ततोगत्वा उनके कामों का दायित्व नागरिकों पर ही है। यह नागरिक के लिए अच्छा नहीं है कि उसके ऊपर ऐसे कामों का दायित्व आ पड़े जिनको वह अपने लिए आमूलतः अहितकर समझता हो।

२

सदाचार का स्वरूप

कर्त्तव्यों का संघर्ष

सच बोलना, किसी की सम्पत्ति को हस्तगत न करना, आपनों की रक्षा और सहायता करना अच्छे काम माने जाते हैं। इसी प्रकार झूठ बोलना, परस्त्री-गमन, परधन-हरण, दुर्बल को सताना बुरे काम माने जाते हैं। परन्तु न तो सब अच्छे कामों की कोई सूची मिलती है, न सब बुरे कामों की। यदि ऐसी सूचियाँ मिलतीं और हमको उनके बनानेवालों पर श्रद्धा और विश्वास होता तो आँख बंद करके अच्छे कामों की सूची के अनुसार काम कर चलते और बुरी सूची में गिनाये कामों को छोड़ते जाते। सम्भव है इसमें कुछ कष्ट होता, तपस्या करनी होती, परन्तु मार्ग तो खुला होता। अब तो हमको स्वयं सोचना पड़ता है कि कौन-सा काम अच्छा है, कौन बुरा। इतना ही

नहीं, जो काम अच्छे कहे जाते हैं उनको भी करने में अड़चनें पड़ती हैं। कभी-कभी चित्त में ही महाभारत उपस्थित हो जाता है। एक ही अवसर पर दो धर्म्म, दो कर्त्तव्य टकराते हैं, यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि इस समय अच्छा काम कौन-सा है। एक बच्चा बीमार है, कड़वी ओषधि के नाम से चिढ़ता है। उससे यह कहें कि न कहें कि दवा मीठी है? एक मनुष्य रोग-शय्या पर पड़ा है। उसके बचने की कोई आशा नहीं है। क्या उससे कह दें कि अब तुम मरनेवाले हो? एक शिकारी हिरण का पीछा कर रहा है। हिरण मेरे सामने से एक ओर को भागा है। शिकारी के पूछने पर चुप रहूँ या सच-सच कह दूँ या उलटी दिशा बता दूँ? मकड़ी एक मक्खी को मारने जा रही है। मक्खी को बचाकर मकड़ी को भूखी मरने दूँ या मक्खी को मरने दूँ? ऐसे बहुत-से अवसर हमारे जीवन में आते हैं जब कि कर्त्तव्य के विषय में द्विविधा पड़ जाती है। पहले तो टाल देना कोई अच्छी बात नहीं है फिर, अधिकांश अवसरों पर तो कुछ न कुछ करना ही पड़ता है। यह हो सकता है कि मृग के पीछे दौड़नेवाले शिकारी के पूछने पर हम चुप रह जायँ पर रोते बच्चे से तो कुछ कहना ही पड़ेगा। यदि आपत्ति में पड़े हुए को बचाना सदाचार और सामर्थ्य होते हुए न बचाना दुराचार है तो मकड़ी के मुँह में पड़नेवाली मक्खी को देखकर कुछ न करना, तटस्थ रहना, भी बुरा होगा। यदि यह मान लिया जाय की प्राण बचाना सच बोलने से अधिक अच्छा काम है और इस आधार पर बच्चे से झूठ बोल दिया जाय तो क्या इसी तर्क के अनुसार एक चोर या ख़ूनी को बचाने के लिए झूठ बोला जा सकता है? हम देखते हैं कि इन प्रश्नों के पहले से

बने-बनाये उत्तर कहीं नहीं मिलते। अमुक-अमुक काम अच्छे काम हैं, अमुक अच्छा काम अमुक दूसरे अच्छे काम से ऊँचा या अधिक अच्छा है, ऐसा भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक अवसर के लिए परीक्षा करनी पड़ती है। इस परीक्षा में सफलता प्राप्त करने के लिए अच्छे काम, सदाचार के स्वरूप की कोई पहचान होनी चाहिए।

कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक

एक सरल पहचान यह बतलाई जाती है कि हमारे भीतर एक कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक-शक्ति है जो हमको यह बतला देती है कि अमुक काम करना चाहिए, अमुक काम न करना चाहिए। हम उसकी बात न मानें—बार-बार अवहेलना करने से उसका स्वर धीमा भी पड़ जाता है—परन्तु शुरू-शुरू में तो वह अपना काम करती है और जो लोग उसको कुण्ठित नहीं कर देते उनको सावधान करती रहती है। यह तो सबके अनुभव में आया होगा कि किसी-किसी काम को करने का विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई भीतर से रोक रहा हो। यह भी बहुधा देखने में आया है कि इस अन्तःस्वर की अवहेलना करने का परिणाम अच्छा नहीं हुआ है। पर इतने ही से इसको कर्त्तव्य का निष्पक्ष दैवी निर्णायक नहीं माना जा सकता। हमारा अन्तःस्वर कहता है कि मनुष्य को भेड़-बकरी की भाँति पण्य वस्तु नहीं बनाना चाहिए—आज भी ऐसे लोग हैं जो ग़ुलाम रखते हैं। हम गिरे हुए शत्रु को ठोकर मारना बुरा समझते हैं—अफ़्रीका में ऐसी जातियाँ थीं जो शत्रु को मारकर खा जाना अच्छा काम समझती थीं। हमारा विवेक नियोग-प्रथा की बात

सोचकर काँप उठता है—किसी समय ऋषि-मुनि इसके समर्थक थे। अतः यह विवेक-शक्ति सब लोगों से और सब समयों में एक ही बात नहीं कहती। जो शक्ति एक देश में आहत शत्रु की मरहम-पट्टी करना और दूसरे देश में उसको खा जाना अच्छा बताती है, उसका क्या भरोसा ?

फिर यह भी नहीं कहा जा सकता कि यह कोई दैवी शक्ति है। शत्रु को खानेवालों के बच्चे यदि ऐसे लोगों में पलें जो इस बात को बुरा समझते हैं तो वह भी इस प्रथा को बुरा मानने लगते हैं—जो लोग कभी ग़ुलाम नहीं रखते उनके बच्चे वैसे वातावरण में पलकर ग़ुलामी प्रथा के समर्थक बन जाते हैं। अतः यह कर्त्तव्या-कर्त्तव्य-विवेक तो मनुष्य को केवल इतना बतलाता है कि तुम जो काम करने जा रहे हो वह उस समाज की, जिसमें तुम पले हो, प्रचलित प्रथाओं के अनुकूल या प्रतिकूल है। हम बहुत-सी बातों में अपने पड़ोसियों का अनुकरण करते हैं। जिन बातों की सब लोग प्रशंसा करते हैं उनकी प्रशंसा करते हैं, जिनकी सब निन्दा करते हैं हम भी निन्दा करते हैं। चीन में स्त्रियों के छोटे पाँव, जिनसे थोड़ी दूर भी चलना असम्भव होता था, सुन्दर समझे जाते थे। बचपन से बुद्धि में सौंदर्य की यह परख बैठ गई थी। लम्बे पाँववाली स्त्री देखकर कुत्सा होती थी। जहाँ पर्दे की प्रथा है वहाँ के पुरुष बेपर्द स्त्री को बड़ा ही गर्हित प्राणी समझते हैं। बस इसी प्रकार कुल, जाति, देश की प्रचलित प्रथाओं और प्रचलित विचारों के संस्कारों का ही नाम कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विवेक है। यह बुद्धि के तुलनात्मक धर्म का एक उदाहरण-मात्र है। हमारे सामने एक विशेष रंग की कई वस्तुएँ

आई हैं। हम उस रंग को लाल रंग कहते हैं। अब यदि किसी नई वस्तु का प्रत्यक्ष होता है तो बुद्धि इसके रंग को पिछले अनुभवों के संस्कारों से मिलाकर यह बतला देगी कि यह लाल है या नहीं। बस, यह नहीं कहेगी कि इसे लाल होना चाहिए था या नहीं। उसी प्रकार जब किसी काम के करने का विचार आता है तो विवेक-बुद्धि यह बतला देती है कि यह काम उस प्रकार का है या नहीं जैसे इस समाज में लोग प्रायः किया करते हैं। इस विवेक-बुद्धि का यह काम नहीं है कि यह बतलाये कि काम वस्तुतः करने योग्य है या नहीं। यह निर्णय भी यदि करेगी तो बुद्धि ही करेगी परन्तु वह तो लम्बे विचार की बात है, तात्कालिक प्रेरणा की नहीं।

अतः इस प्रकार तो अच्छे-बुरे काम की सच्ची पहचान नहीं हो सकती। कोई और विश्वसनीय परख ढूँढ़नी होगी।

कर्म्म का परिणाम

एक बात यह कही जाती है कि अच्छा काम वह है जिसका परिणाम अच्छा हो। पहले तो यह बात निर्विवाद नहीं है। इससे सदाचार समयोपयोगी नीति-मात्र रह जाता है। यदि सच बोलने से लाभ होता हो तो सच बोला जाय, यदि झूठ बोलने से लाभ हो तो झूठ बोला जाय। फिर तो कोई भी काम न अच्छा रहा न बुरा। जो एक के लिए अच्छा होगा वही दूसरे के लिए बुरा होगा। हमारी दृष्टि काम के स्वरूप पर नहीं वरन् फल के स्वरूप पर रहेगी। यह हो सकता है कि कुछ कामों का फल प्रायः अच्छा होता हो, इसलिए बहुधा लोग उनका ही व्यवहार करें, फिर भी यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन होगा कि उनका परिणाम सदैव अच्छा ही होगा।

परिणाम को प्रधानता देने पर दो और प्रश्नों का भी उत्तर देना होगा। पहला प्रश्न तो यह है कि किसके लिए परिणाम अच्छा होना चाहिए, दूसरा यह कि अच्छा परिणाम किसे कहते हैं ? पहले प्रश्न को लीजिए। ऐसा हो सकता है कि किसी काम का परिणाम मेरे लिए अच्छा न हो पर दूसरे के लिए अच्छा हो। ऐसे काम भी हैं जिनका परिणाम मेरे लिए अच्छा हो पर दूसरे के लिए बुरा हो। मैं दोनों में से कौन-सा काम करूँ, किसकी गिनती सदाचार में होगी? यदि यह कहा जाय कि वह काम अच्छा है जिसका परिणाम दूसरे के लिए अच्छा हो, तो फिर प्रश्न यह होगा कि मैं क्यों दूसरे का ख़याल अपने से अधिक करूँ ? अपने को कष्ट देना ही तो सदाचार का लक्षण है नहीं। जिसके साथ वह काम करना है केवल उसी के ऊपर परिणाम देखना चाहिए या और लोगों पर भी। मेरे सामने दो भूखे हैं, जिनमें एक तो गणित का पण्डित है, दूसरा कोरा भिखमंगा। मैं एक का ही पेट भर सकता हूँ। किसको खिलाऊँ ? भूखे दोनों हैं, स्वगत परिणाम—क्षुधा की तृप्ति—दोनों के लिए एक-सा है पर यह हो सकता है कि यदि गणितज्ञ जीवित रह गया तो दस-पाँच और भी गणित सीख जायँ। तो मैं परिणाम की गणना करते समय कितनी दूर तक जाऊँ ? फिर, अपने ऊपर जो परिणाम होगा उसका कुछ भी ख़याल किया जाय या नहीं ? किसी मनुष्य की सम्पत्ति लुट रही है। मैं जानता हूँ कि लूटनेवाले मरने-मारने पर तुले हैं। ऐसी दशा में क्या करना चाहिए ? एक मनुष्य की सम्पत्ति-हानि, मेरी प्राण-हानि—इन दोनों में किसकी ओर ध्यान दूँ ?

दूसरा प्रश्न यह था कि अच्छा परिणाम किसे कहते हैं ? किसी

काम करने में हाथ-पाँव टूटते हैं पर चित्त को परितोष होता है कि हमने अमुक स्त्री की रक्षा कर दी। यहाँ शरीर की व्यथा और चित्त का परितोष—दोनों में कौन परिणाम अच्छा है ? मैं अपने पैसे को भूखों का पेट भरने में या अपढ़ों को पढ़ाने में लगाऊँ ?

परिणाम को काम की अच्छाई की कसौटी बनाने में इतने प्रश्न खड़े होते हैं, पर क्या परिणाम का विचार बिलकुल छोड़ दिया जा सकता है ? पागल को किसी से द्वेष न हो, उसकी नियत भली ही हो पर यदि वह घर-घर आग लगाता फिरे तो हम उसके काम को सदाचार कहेंगे ? फिर, क्या केवल परिणाम को देखना चाहिए ? कोई मनुष्य किसी रोगी की सम्पत्ति हस्तगस्त करने के लिए उसे विष दे और वह विष ओषधि का काम करे, तो क्या यह विष देना सदाचार हुआ ?

कर्म्म का उद्देश्य

यह भी कहा जाता है कि जो काम अच्छे उद्देश्य से किया जाय वह अच्छा है। परन्तु यहाँ यह प्रश्न उठेगा कि अच्छा उद्देश्य किसे कहते हैं ? यदि लोगों के हित या कल्याण को अच्छा उद्देश्य समझा जाय, तो यह जानना आवश्यक है कि हित या कल्याण क्या है ? कल्याणों में कोई तारतम्य भी है ? सम्भव है कि मनुष्य का आध्यात्मिक कल्याण हिन्दू बन जाने में हो परन्तु शारीरिक कल्याण तो सुख से खाने-पीने में है। क्या मैं आध्यात्मिक कल्याण को ऊँचा मानकर किसी अहिन्दू को हठात् हिन्दू बनाने का प्रयत्न कर सकता हूँ ? दूसरे के कल्याण-साधन के उद्देश्य को सामने रखते हुए उस व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा का भी विचार करना चाहिए या

नहीं ? बच्चे को रोग-मुक्त करने के उद्देश्य से उसकी अनिच्छा रहते हुए भी ओषधि पिलानी चाहिए या नहीं ? सभ्य बनाने के उद्देश्य से किसी असभ्य देश के निवासियों को ज़बरदस्ती अपने शासनाधिकार में लाना चाहिए या नहीं ? काम की अच्छाई का निश्चय करने में उद्देश्य को कहाँ तक स्थान दिया जाय ? एक आदमी की समझ में यह आ जाय कि भारत की जन-संख्या बहुत बढ़ती जा रही है। इससे लोग दरिद्र होते जाते हैं और स्वास्थ्य भी बिगड़ता जा रहा है। अब यदि वह जनता के सुख और स्वास्थ्य को बढ़ाने के उद्देश्य से नव-जात शिशुओं में से आधे को गला दबाकर मार डाले तो उसका ऐसा करना अच्छा है या बुरा ?

उद्देश्य और परिणाम, दोनों ही के सम्बन्ध में एक प्रश्न उठता है। काम की अच्छाई-बुराई अव्यवहित उद्देश्य या परिणाम पर निर्भर करती है या व्यवहित पर ? एक आदमी लोगों को बहुत सताता है। मैं उनके त्राणार्थ उसको मार डालता हूँ। यहाँ मेरा व्यवहित उद्देश्य तो लोगों की रक्षा था परन्तु अव्यवहित उद्देश्य उस व्यक्ति को मार डालना था। ऐसी दशा में मेरा यह काम अच्छा था या बुरा ? एक आदमी जो जुआ खेलता है, शराब पीता है, चोरी करता है, पानी में डूब रहा है। मैं उसे बचा लेता हूँ। यहाँ अव्यव-हित परिणाम तो उसके प्राण की रक्षा हुआ परन्तु व्यवहित परिणाम यह हुआ कि कितनों के घर चोरी हुई, जुए में कितनों के घर बिगड़े। ऐसा काम अच्छा कहा जाय या बुरा ? अच्छाई-बुराई निश्चय करने में कितनी दूर तक का परिणाम सोचा जाय ? जिस काम का परिणाम एक के लिए अच्छा होता है उसका परिणाम उसी समय

दूसरे के लिए बुरा हो सकता है। फिर, किसी काम को अच्छा या बुरा कहना कैसे सम्भव हो सकता है ?

परिणामों का योग

इसका उत्तर यों दिया जाता है कि हमको काम के सभी परिणामों पर विचार करना चाहिए। जिस काम के परिणाम सबसे अच्छे हों अर्थात् अधिक से अधिक लोगों के लिए अधिक से अधिक अच्छे हों वह काम अच्छा है। इस पर कई आपत्तियाँ हो सकती हैं। एक तो यह है कि इस बात का निर्णय करना बहुत कठिन है। हमारे इस काम से उठी लहर कहाँ तक जायगी, इस बात को कितने आदमी समझ सकते हैं ? किस-किस पर क्या-क्या प्रभाव पड़ेगा इसका अनुमान कितने आदमी कर सकते हैं ? अच्छे और बुरे परिणामों को मिलाकर उनका जोड़ निकालना कितने आदमियों का काम है ? पहले तो इस सारी जटिल समस्या को सुलझाने के लिए जितनी बातें जाननी चाहिए वह स्यात् ही किसी को उपलब्ध हो सकती हैं, फिर उस उपलब्ध सामग्री का उपयोग करना हर बुद्धि का काम नहीं है। जो व्यक्ति अपनी सहज तीव्र बुद्धि को तर्कशास्त्र में निष्णात करा चुका हो वही इस प्रकार के निर्णय करने की बात सोच सकता है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि केवल वही मनुष्य सचमुच अच्छा काम कर सकता है और बुरे काम से बच सकता है जो बड़ा विद्वान् और बुद्धिमान् हो। साधारण मनुष्य बराबर धोखा खायगा। परन्तु साधारण मनुष्यों की ही संख्या अधिक है और इस मत से उनको निराश होना पड़ता है।

दूसरी आपत्ति यह है कि परिणामों का जोड़ना कठिन ही

नहीं असम्भव-सा है। जोड़ उन्हीं पदार्थों का हो सकता है जो सजातीय होते हैं। मेरी दी हुई किसी वस्तु को खाकर एक मनुष्य के पेट में पीड़ा हुई। उसने वैद्य को बुलाकर चार रुपये दिये। एक के लिए परिणाम बुरा, दूसरे के लिए अच्छा कहा जा सकता है। पर इनका मिलान कैसे किया जाय? उदर-व्यथा और द्रव्य-लाभ में क्या अनुपात है? कितनी पीड़ा कितने रुपयों के बराबर होती है? यदि इसके जानने का उपाय नहीं है तो फिर परिणामों का जोड़ कैसे लगेगा? बहुधा जिस व्यक्ति को फाँसी लगनेवाली होती है उससे पूछते हैं कि मरने के पहले तुम्हारी क्या इच्छा है? ऐसे अवसर पर कोई मिठाई माँगता है, कोई सिगरेट, कोई फल, कोई जप करने के लिए माला, कोई-कोई धर्म-ग्रन्थ; किसी-किसी ने गाना सुनने या बाजा बजाने की इच्छा प्रकट की है; कोई अपने सम्बन्धियों या मित्रों से मिलना चाहता है। अब क्या इसका तात्पर्य्य यह माना जाय कि यह सब बराबर की चीजें हैं, अर्थात् १ दोना मिठाई = ४ बीड़ी = २ आम। इसके आगे यहाँ भी रुकना पड़ता है क्योंकि धर्म्म-पुस्तक का कितना पाठ, माला पर कितना जप, सितार पर किस-किस रागिनी का कितनी देर तक बजाया जाना एक बीड़ी के बराबर माना जाय?

तीसरी बात यह है कि परिणामों को जोड़ना-घटाना आदि सम्भव भी हो तो हमको इस बात का अनुमान करने में भी कठिनाई होती है कि किसी विशेष काम का किस पर क्या परिणाम पड़ता है। हम अपने स्वभाव, अपने राग-द्वेष, का अतिक्रमण नहीं कर सकते। जिस वस्तु का जैसा परिणाम हम पर पड़ता हम समझते हैं कि

दूसरों पर भी वैसा ही पड़ता होगा। भौतिक आघातों और व्याधियों की बाबत तो ऐसा कहा जा सकता है। शिरोव्यथा या लाठी की चोट या छुरी भोंकना सबको एक-सा ही प्रभावित करता है परन्तु संगीत या कविता या गाली का प्रभाव सब पर एक-सा नहीं पड़ता। किसी को पुष्पोद्यान भला लगता है, कोई उसमें रत्ती भर रस का अनुभव नहीं करता। किसी को एकान्त-वास प्यारा लगता है, किसी को पागल बना देता है। इसलिए निष्पक्ष निर्णय करना बहुत कठिन हो जाता है। हम जिस काम को अच्छे उद्देश्य से, अपनी पसन्द-नापसन्द को प्रमाण मानकर, करें उसका परिणाम उलटा हो सकता है।

सबसे श्रेष्ठ परिणाम सुख है

इन सब और दूसरी कठिनाइयों को ध्यान में रखकर कई विद्वानों का यह मत है कि हमको परिणामों में से केवल एक पर ध्यान देना चाहिए। वह परिणाम सुख है। प्रत्येक काम के विषय में यह देखना चाहिए कि इसके परिणामस्वरूप कितना सुख वितरित होता है। जिस काम से जितनी अधिक मात्रा में सुख उत्पन्न हो वह काम उतना ही अच्छा है। सुख केवल दुःख के अभाव का नाम नहीं है। भोजन करने से जो सुख मिलता है वह चाहे भूख के दुःख की निवृत्ति का ही नामान्तर हो परन्तु एक अच्छी पुस्तक पढ़ने में या गाना सुनने में या एकान्त में समाधिस्थ होकर बैठने में जो सुख मिलता है वह अपनी एक अलग सत्ता रखता है। इस पक्ष का कहना यह है कि यद्यपि और उद्देश्य और परिणाम भी होते हैं परन्तु सुख ही मुख्य उद्देश्य होना चाहिए और परिणामों में सुख पर ही सबसे अधिक ध्यान देना चाहिए। और वस्तुएँ गौण हैं।

सुख प्रधान है। यदि सुख की प्राप्ति हो तो मनुष्य दूसरी वस्तुओं के अभाव को भूल सकता है। यहाँ पर दो-तीन प्रश्न उठते हैं। पहला प्रश्न—और यही सबसे महत्त्वपूर्ण है—यह है कि यह बात क्यों मानी जाय कि सुख ही सब परिणामों में श्रेष्ठ है और हमको सुख को ही लक्ष्य बनाना चाहिए? दूसरा प्रश्न यह है कि किसका सुख लक्ष्य बनाया जाय, अपना या दूसरों का? प्रत्यक्ष रूप से तो यह बहुधा देखने में आता है कि दूसरों का सुख ढूँढ़ने में अपने सुख की हानि होती है और अपने सुख के पीछे चलने में दूसरों का सुख मारा जाता है। कभी-कभी दोनों बातें एक साथ भी हो सकती हैं पर यह कोई नियम नहीं है कि सदैव ऐसा ही हो। पर क्या मेरा अपने सुख को लक्ष्य मानकर चलना, चाहे ऐसा करने से दूसरों को दुःख भी हो, सदाचार होगा? यदि यह कहा जाय कि मुझे दूसरों के सुख को लक्ष्य बनाना चाहिए तो मैं पूछ सकता हूँ कि ऐसा क्यों करूँ? फिर यह भी मान लीजिए कि दूसरों के सुख को सम्पन्न करना ही सदाचार है, तो दूसरों का सुख किस प्रकार सम्पादित करूँ अर्थात् दूसरों के सुख के सम्बन्ध में क्या करूँ—सुख की अधिक से अधिक मात्रा को लक्ष्य बनाऊँ या अधिक से अधिक लोगों का सुख? दोनों बातें एक ही नहीं हैं। मेरे पास कुछ रुपया है। उससे मैं दो प्रकार के काम कर सकता हूँ—एक ब्राह्मण कुमार का विवाह करा दूँ जिससे उसको गार्हस्थ्य जीवन का सुख मिले, उसको कुछ पुस्तकें मोल ले दूँ जिससे उसको बौद्धिक सुख मिले और उसके घर कुछ अन्न मोल लेकर रख दूँ जिससे उसको भोजनादि का सुख मिले। उसी रुपये से मैं पाँच सौ भूखों को एक बार भोजन करा सकता हूँ।

पहले काम में सुख की मात्रा अधिक और उसका अनुभूतिकाल लम्बा है, दूसरे काम में सुख का अनुभूतिकाल थोड़ा है पर अनुभव करने-वालों की संख्या बड़ी है। दोनों में कौन-सा काम अच्छा है? यदि सौ रुपया बाँटना है और सौ आदमी पाने के इच्छुक हैं तो दस आदमियों में दस-दस रुपया बाँटना अच्छा है या सब लोगों को एक-एक रुपया देना? कोई जहाज़ डूब गया। उस पर के बीस नाविक एक सुनसान टापू पर जा लगे हैं। साथ में कुछ भोजन भी है जिसका पता एक ही आदमी को है। दो महीने तक दूसरे जहाज़ के आने की सम्भावना नहीं है। यदि दो ही चार आदमियों को भोजन दिया जाय तो वे दो महीने तक जी सकते हैं; यदि सबको थोड़ा-थोड़ा दिया गया तो नाम करने को कुछ मिल तो जायगा पर पेट किसी का न भरेगा और दस-पाँच दिन में सब मर जायँगे। अब वह आदमी क्या करे?

फिर एक प्रश्न यह होता है कि क्या सब सुख बराबर हैं? भुने चने चबाने का सुख और चित्रकला देखने का सुख, इन दोनों में कोई ऊँचा-नीचा नहीं है? यह देखा गया है कि कुछ लोग केवल चने चबा सकते हैं और कुछ लोग चने भी चबा सकते हैं और चित्रकला का भी आनन्द ले सकते हैं। यह लोग चने छोड़कर चित्र देखना पसन्द करते हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि कलादर्शन का सुख भोजन सुख से बढ़कर है। चने चबाना शरीर-निर्वाह के लिए आवश्यक है, पेट भरने का साधन है। इससे कुछ लोग यह कहते हैं कि जो काम शरीर को बनाये रखने के लिए आवश्यक हैं उनके करने से जो अनुभूति होती है उसे तुष्टि या तृप्ति कहते हैं और

इसके अतिरिक्त कामों से सुख होता है। सुख तृप्ति से ऊँचा होता है। चने चबाने से तृप्ति होती है, चित्र देखने से सुख मिलता है। परन्तु ऐसे भी लोग हैं जो भोजन छोड़कर दूसरों को मुक़द्मे लड़वाते हैं। उनको इसी काम में सुख मिलता है। तो दर्शन पढ़ना ऊँचा काम है या मुक़द्मे लड़ाना? किसका सुख ऊँचा और वाञ्छनीय है? या दोनों बराबर हैं? सुखों में तारतम्य, ऊँचा, नीचा स्थापित करने का क्या आधार है?

क्या अपना सुख ही मनुष्य का एक-मात्र लक्ष्य है?

हमने ऊपर एक आक्षेप यह किया था कि सुख को ही सर्वश्रेष्ठ परिणाम, एक-मात्र लक्ष्य, क्यों मानें? इसका एक उत्तर यह दिया जाता है कि यहाँ क्यों का प्रश्न ही नहीं उठता। हमारे चित्त की बनावट ऐसी है कि हम सिवाय अपने सुख के किसी और चीज़ को लक्ष्य बना ही नहीं सकते। प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक काम को इसी लिए करता है कि उसको उसमें सुख मिलता है। काम प्यारा नहीं होता, उसके करने से मिलनेवाला सुख प्यारा होता है।

इस मत पर विचार करने में एक बड़ी कठिनाई है। न तो इसके पक्ष में कोई प्रमाण दिया जा सकता है, न किसी प्रमाण के द्वारा इसका खण्डन हो सकता है। लोग खाना-पीना छोड़कर पढ़ने-लिखने में, प्रयोगशाला में, ज्योतिष की वेधशाला में, अपना समय बिताते हैं। स्वयं नंगे-भूखे रहकर, बाल-बच्चों को नंगा-भूखा; रोगी रखकर, लोग देश के नाम पर जेल जाते हैं, गोली खाते हैं, फाँसी पर लटक जाते हैं। धर्म के नाम पर खाल खिँचवाते हैं, आग में जला दिये जाते हैं। वैज्ञानिक अनुसन्धान के नाम पर अपने शरीर पर विषों

का प्रयोग करते हैं। न्यायाधीश की गद्दी पर बैठकर अपने लड़के को फाँसी की आज्ञा देते हैं। किसी को बचाने के लिए जलते घर में कूद पड़ते हैं। गऊ के लिए अपने प्राण दे देते हैं। अब साधारणतः तो लोगों को शारीरिक पीड़ा, धनहानि, आत्मीय वियोग और मृत्यु से दुःख होता है। पर यह लोग कुछ ऐसे हठी या विलक्षण प्रकृति के होंगे कि इनको इन्हीं बातों में सुख मिलता होगा। अन्यथा, जब मनुष्य सुख के सिवाय कोई और लक्ष्य रखता ही नहीं, तो यह लोग ऐसे काम कैसे करते हैं ?

अब यह बात तर्क से सिद्ध या असिद्ध नहीं की जा सकती कि सचमुच इनको इन कामों में—अपने बाल-बच्चों को तड़पते देखने में, आग में जलने में, विष खाने में, शरीर को बन्दूक़ की गोली से छिदवाने में, जेल में बन्द होने में—मज़ा, सुख मिलता है या नहीं। यह तो अपने-अपने अनुभव की बात है। यदि सुख मिलता है तब तो यह कहना पड़ेगा कि यह सब काम सुख की खोज में किये जाते हैं। सुख सामान्य बातों में भी है पर इन बातों में अधिक सुख है, उसी अधिक सुख की लालच में ऐसे काम होते हैं। यह प्रश्न फिर भी रह जायगा कि इन कामों में अधिक सुख क्यों मिलता है और काम करने के पहले यह कैसे विदित हो जाता है कि इसमें हमको अधिक सुख मिलेगा। क, ख, ग तीनों भूखे हैं, तीनों भूख की शान्ति से उत्पन्न सुख को ढूँढ़ते हैं पर क का पेट तो तभी भरेगा जब उसके सामने भरी थाली हो। ख और ग के सामने भरी थाली आने से क की भूख मिट नहीं सकती और उसको सुख मिल नहीं सकता। यह वह कैसे जानता है कि यदि मैं अपने सामने की थाली घ के सामने टाल दूँगा

तो मुझे सुख मिलेगा ? चाहे ऐसा होता भी हो, परन्तु पहले से ऐसा कैसे जाना जा सकता है ? सम्भव है, किसी को बचाने के लिए आग में कूदनेवाले को बड़ा सुख मिलता हो परन्तु वह पहले से कैसे जानता है कि मुझे आग में कूदने पर सुख मिलेगा ?

जो लोग इस सुखवाद को नहीं मानते, वह इन कामों को दूसरी भाँति समझाते हैं। उनका कहना है कि जो उदाहरण दिये गये हैं उन सबमें दुःख की अनुभूति होती है परन्तु भीतर से ऐसा प्रतीत होता है कि यह काम अच्छा है, मुझे इस अवसर पर ऐसा ही करना चाहिए। यह कर्त्तव्य-बुद्धि जिसमें प्रबल होती है वह ऐसे काम कर निकलता है। शरीर जलता है, घोर पीड़ा होती है—दूसरे अवसर पर वही मनुष्य अपने को शारीरिक कष्ट, सम्पत्ति-हानि, स्वजन-वियोग और मृत्यु से बचाने का यत्न करता है—परन्तु यह जँचता है कि इस समय मुझे यही करना चाहिए और इस भाव के बल से तीव्र वेदना सह ली जाती है।

कर्त्तव्य-बुद्धि

यह कर्त्तव्य-बुद्धि कैसे पैदा होती है यह विचारणीय प्रश्न है। बहुत सम्भव है कि धार्मिक विश्वास या प्रचलित प्रथाओं के संस्कार से ही यह भाव उत्पन्न होता हो परन्तु जब उत्पन्न हो जाता है तो फिर यह स्वयं लक्ष्य बन जाता है। जो स्त्री अपने पति की चिता पर जल जाती है उसे आग से जलने में सुख नहीं मिलता और न वह यह समझती है कि मुझे सुख मिलेगा पर उसके हृदय में यह विश्वास जमा हुआ है कि मुझे ऐसा करना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि वह परलोक में सुख पाने की आशा में इस दुःख को सह लेती है तो

जो अनीश्वरवादी और अनात्मवादी अपने सिद्धान्त के लिए या देश के लिए कष्ट उठाते हैं उनके लिए यह बात नहीं कही जा सकती। उनको तो किसी परलोक में सुख मिलने की बात पर विश्वास नहीं है। सच तो यह है कि इस बात में सन्देह है कि मनुष्य कभी कोई काम कोरे सुख के लिए करता भी है और यदि करता है तो उसमें सुख पाता भी है या नहीं। धन, जन, मनोरञ्जन अर्थात् चित्त को उसके नित्यप्रति के व्यापार से फेरना, भगवान् का सान्निध्य, किसी की सहायता करना--हमारे लक्ष्य तो यही होते हैं। हाँ, इनके करने के साथ-साथ या करने के बाद सुख मिलता है। जब हम मुँह में भोजन डालते हैं तो उस समय यह नहीं सोचते कि ऐसा करने से सुख मिलेगा वरन् यह कि ऐसा करने से भूख की ज्वाला शान्त होगी। भूख के उपशम पर जो सुख मिलता है वह लक्ष्यीकृत नहीं प्रत्युत गौण है। जो लोग केवल मज़े के लिए भोजन करते हैं उनको क्षण भर तो चाहे सुख मिलता हो परन्तु बाद में रोग पकड़ता है, अजीर्ण होता है, कडुवी ओषधि खानी पड़ती है, चित्त खिन्न रहता है, थोड़े में असुख ही असुख मिलता है।

नैष्काम्य

अच्छे काम का एक लक्षण यह दिया जाता है कि वह निष्काम होता है। निष्काम से तात्पर्य्य यह है कि कर्त्ता के चित्त में अपना कोई लाभ नहीं है और न उसे किसी से द्वेष है। परन्तु क्या केवल निष्काम होने से कोई काम अच्छा मान लिया जा सकता है? मैं पहले दिये हुए एक उदाहरण को फिर लेता हूँ। यदि किसी की बुद्धि में यह आजाय कि भारत की समृद्धि को बढ़ाने के लिए जन-संख्या

को कम करना चाहिए और इसका सबसे अच्छा उपाय यह है कि जितने बच्चे पैदा हों उनमें से आधे मार दिये जायँ और फिर वह इसी समझ के अनुसार बच्चों को मारना आरम्भ कर दे तो उसका काम अच्छा मानना चाहिए या बुरा? इसमें उसका कोई अपना स्वार्थ नहीं है, न उन बच्चों से कोई द्वेष है। उद्देश्य भी बुरा नहीं है। तब यदि इस काम को बुरा माना जाता होगा तो इसलिए कि उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह उपयुक्त उपाय नहीं है। उसकी उपयुक्तता में क्या कमी है? यदि यह कहा जाय कि बच्चों को मारना बुरा है, तो प्रश्न होगा क्यों? श्रीकृष्ण की प्रशंसा की जाती है कि उन्होंने अर्जुन को निष्काम कर्म करने का उपदेश दिया। परन्तु हमने अभी ऊपरवाले उदाहरण से देखा है कि केवल निष्काम होने से कोई काम अच्छा नहीं माना जा सकता। अर्जुन और उनके गुरु श्रीकृष्ण की प्रशंसा हम तभी कर सकते हैं जब यह सिद्ध हो जाय कि प्रजा की या धर्म्म की रक्षा अच्छी चीज़ है और उसके लिए दुर्योधनादि को मारना आवश्यक था। यदि दुर्योधन को किसी अहिंसात्मक उपाय से राजच्युत किया जा सकता रहा हो तो यह विचारणीय होगा कि अहिंसात्मक उपाय अच्छा है या हिंसात्मक और क्यों? इन सब प्रश्नों का निर्णय कर लेने के बाद यह कहा जा सकता है कि जो काम अर्जुन ने किया अर्थात् जो समझा-बुझाकर उनसे कराया गया वह प्रशंसा के योग्य था या नहीं, केवल निष्कामिता उसे अच्छा नहीं बना सकती।

अतः हम देखते हैं कि उद्देश्य या परिणाम या सुख या निष्कामिता किसी से भी हमको काम की अच्छाई-बुराई की परीक्षा करने का

ठीक-ठीक साधन नहीं मिलता। एक अन्तिम क्यों? बिना उत्तर का रह जाता है।

प्राचीनकालीन उपयोगिता और आज की अच्छाई में अन्तर

एक मत यह है कि अच्छे काम वह हैं जो आज से हज़ारों वर्ष पहले मनुष्य-जाति को, और उसके भी पहले उसके वानर पूर्वजों को, उपयोगी प्रतीत हुए। उपयोगी इसलिए प्रतीत हुए कि वह जाति-रक्षा में सहायक थे। आदिम मनुष्य और उसके वानर पूर्वज इस दृष्टि से निहत्थे थे कि न उनको सींगें थीं, न तीखे पञ्जे थे, न पीठ पर ढाल जैसी मोटी खाल थी। उन दिनों बड़े बलवान् हिंस्र पशु होते थे जिनके बराबर आजकल कोई पशु नहीं है। उनकी हड्डियाँ अब भी मिलती हैं। उनके बीच में रहकर जीना तभी सम्भव था जब मनुष्य झुंड बनाकर रहता। मनुष्य के लिए समाज मनोरञ्जन की सामग्री नहीं वरन् जीवित रहने का एक-मात्र उपाय था। जब समाज में रहना हुआ तब मनमानी चल नहीं सकती थी। कुछ ऐसे नियम निकल आये जिनसे लोग साथ रह सके। इन नियमों का उपयोगी होना प्रत्यक्ष देख पड़ता था। धीरे-धीरे उपयोगीपन पर से ध्यान उठ गया और यही नियम स्वतः अच्छे माने जाने लगे। सम्भव है, यह बात ठीक हो पर इसके साथ ही यह बात भी ठीक प्रतीत होती है कि अब 'अच्छा' और 'उपयोगी' में भेद भी होता है। यह हो सकता है कि जो आज 'अच्छा' कहलाता है वह पहले 'उपयोगी' ही रहा हो और आज भी बहुत-सी अच्छी बातें उपयोगी भी होती हों परन्तु सब उपयोगी बातें अच्छी और सब अच्छी बातें उपयोगी नहीं प्रतीत

होतीं। हम बहुधा कहते हैं कि अमुक मनुष्य ने अमुक काम करके बहुत लाभ उठाया—अर्थात् वह काम उसके लिए उपयोगी रहा पर ऐसा करना अच्छा नहीं था। अतः यह भेद चाहे जितने हज़ार वर्ष पहले पैदा हुआ हो पर अब तो है। जानना यही है कि काम की अच्छाई किस बात में होती है ?

आत्माभिव्यक्ति और आत्माभिवृद्धि

इस सम्बन्ध के दो-एक और विचारों का भी दिग्दर्शन करना आवश्यक है। कुछ लोगों का मत यह है कि मनुष्य की प्रकृति ऐसी है कि वह सदैव अपने में एक अपूर्णता, एक त्रुटि, एक कमी का अनुभव करता रहता है। कुछ प्राप्त करने की, अपने को अभिव्यक्त करने की अर्थात् अपनी रुझान के अनुसार काम करने की, अव्यक्त भावना बनी रहती है। यह समझ में न आता हो कि क्या करना चाहिए—बहुधा ऐसा ही होता है—परन्तु कुछ चाहिए, अपने अन्दर कुछ ख़ाली-सा है ऐसा प्रतीत होता रहता है। इस नित्य उद्दीप्त इच्छा की जब कभी पूर्ति हो जाती है तब सुख की अनुभूति होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने में कुछ जुड़ गया, अपनी आत्मा कुछ बढ़ गई, अपनी उँचाई कुछ बढ़ गई। दूसरी ओर जब इच्छा की पूर्ति नहीं होती तब दुःख का अनुभव होता है। ऐसा जान पड़ता है कि अपना कुछ छिन गया, अपनी उँचाई कुछ कम हो गई। बस जिन कामों से अपने में अभिव्यक्ति, आत्माभिवृद्धि, का भाव उत्पन्न हो वह अच्छे काम हैं।

यह बात कुछ हद तक ठीक हो सकती है परन्तु दो-तीन अड़चनें भी हैं। डाकू को सफल डाका मारने में ही आत्माभिव्यक्ति और

आत्माभिवृद्धि का अनुभव होता होगा। तो क्या डाका अच्छा काम है ? या यह कहा जायगा कि किसी के लिए डाका मारना अच्छा है, किसी के लिए डाकू से लोगों के धन-जन की रक्षा करना ? यदि ऐसा है तो फिर वही बात आ पड़ी कि अच्छे काम की कोई निश्चित पहचान नहीं है। दूसरी अड़चन यह है कि कभी-कभी हम ऐसे कामों को भी अच्छा कहते हैं जिनसे हमारी अभिव्यक्ति या अभिवृद्धि नहीं होती। रङ्गमञ्च पर सतीत्व, शौर्य, आत्मोत्सर्ग देखकर हम उत्फुल्ल हो जाते हैं, यद्यपि यह जानते हैं कि यह सब खेल-मात्र है और, कम से कम, हम तो इन कामों को नहीं ही कर रहे हैं। यह नहीं कह सकते कि यह सोचकर सुख मिलता है और आत्माभिवृद्धि होती है कि यदि इस परिस्थिति में हम भी होते तो ऐसा करते। यह भाव थोड़ा-बहुत रहता होगा पर केवल इतना सोचने से उस सुख, उस तुष्टि की अनुभूति नहीं होनी चाहिए, जो सचमुच होती है। यदि सोचने-मात्र से भाव अपने पूर्ण रूप से जाग जाया करे तो भोजन का विचार आने से तुष्टि और क्षुन्निवृत्ति की अनुभूति होनी चाहिए। फिर हम अपने शत्रु के भी शौर्य, धैर्य, बुद्धि और पराक्रम की प्रशंसा करते हैं। ऐसा कैसे होता है ? उसके इन गुणों से और इनके प्रकट होने से उसकी आत्माभिव्यक्ति और आत्माभिवृद्धि तो होनी चाहिए पर मेरी क्यों हो ? उलटे, उसके गुणों के उत्कर्ष से मेरा अपकर्ष होता है, क्षति होती है। फिर भी मैं उसकी इन बातों को बुरा नहीं कह सकता।

अधिकतर लोगों की पसन्द

बार-बार यह लक्षण सामने आता है कि अच्छा काम वह है जिसे हमारा चित्त पसन्द करता है, जो हमको भला लगता है। इस

आपत्ति को बचाने के लिए कि किसी को एक काम भला लगता है, किसी को दूसरा, यह बात यों कही जाती है कि अच्छा काम वह है जिसे अधिकतर मनुष्य—वर्तमान काल के ही नहीं, भूतकाल के भी—पसन्द करते रहे हैं। यदि इस प्रकार देखा जाय तो यह बात तो अवश्य मिलेगी कि सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, दान जैसे कामों पर प्रायः पसन्द की छाप लगी है पर इससे यह बात नहीं निकलती कि इनको क्यों अच्छा कहते हैं, इनमें अच्छाई क्या है। ऐसी कोई परख न मिलने से हम किसी नये काम के विषय में निश्चय न कर सकेंगे कि यह अच्छा है या बुरा और जहाँ दो पुराने धर्म्मों में संघर्ष होगा—जैसे यह कि इस समय सत्य बोलकर आदमी को मरने दें या झूठ बोलकर बचा लें—वहाँ भी कठिनाई में पड़ जायँगे। नई परिस्थितियाँ उत्पन्न होती रहती हैं और उनमें नये काम करने पड़ते हैं।

यह हो सकता है कि अच्छे काम को लोग पसन्द करते हैं पर पसन्द किया जाना अच्छे काम का परिचायक लक्षण, उसकी परिभाषा या पर्य्याय नहीं हो सकता। हम मीठा पसन्द करते हैं परन्तु पसन्द होना मीठा का यथार्थ लक्षण नहीं है। यह नहीं कह सकते कि जिसे पसन्द करते हैं वह मीठा है। ऐसा कहने से लवण या अन्य रस में अतिभाव हो जायगा, क्योंकि लवण को भी पसन्द करते हैं। इसी प्रकार यह नहीं कह सकते कि पसन्द किया जाना सदाचार का—अच्छे काम का—यथार्थ लक्षण है। इस वाक्य को लीजिए—हम अच्छे काम को पसन्द करते हैं। इसमें 'अच्छे काम' की परिभाषा कुछ भी हो, पर वाक्य का अर्थ स्पष्ट है। हम उस प्रकार के काम को पसन्द करते हैं जो अच्छा होता है। अब यदि 'अच्छा' का अर्थ हो

'जिसको हम पसन्द करते हैं' तो यह वाक्य इस प्रकार लिखा जा सकता है—'हम उस प्रकार के काम को पसन्द करते हैं जिसको हम पसन्द करते हैं' या, 'हम जिस काम को पसन्द करते हैं उसको पसन्द करते हैं।' यह वाक्य व्याकरण के अनुसार तो शुद्ध है परन्तु अर्थ-हीन है। कुछ शब्दों की द्विरुक्ति कर देने से अर्थ चौपट हो गया।

इन सब मतों में हम कहीं न कहीं आकर एक दीवार के सामने रुक जाते हैं। दो-एक प्रश्न ऐसे होते हैं जिनका उत्तर देना कठिन होता है—यह कैसे जानें कि अमुक काम अच्छा है? काम की अच्छाई की क्या पहचान है? अब हम एक ऐसे मत पर विचार करेंगे जो इन प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न करता है।

कर्त्तव्यबुद्धि जगत् का तात्कालिक अव्यवहित परिज्ञान

हमको अपनी इन्द्रियों के द्वारा जगत् का यथार्थ अनुभव नहीं होता। हमारा अन्तःकरण जगत् के स्वरूप में अपने धर्म्मों को मिला देता है। इन धर्म्मों में दिक्, काल और निमित्तभाव मुख्य हैं। यदि किसी प्रकार जगत् के स्वरूप पर से इन आरोपित धर्म्मों को हटाया जा सके तो उसके वास्तविक रूप का ज्ञान हो सकता है। पर आरोप हटाने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। जो कुछ भी ज्ञान होता है वह इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्ष के उपरांत बुद्धि और इन्द्रिय के संयोग से ही होता है। बुद्धि अन्तःकरण की एक शक्ति है अतः बिना अन्तःकरण को बीच में डाले किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए समूचा ज्ञान अन्तःकरण के धर्म्मों से रँगा हुआ सुत-राम् अपूर्ण और वितथ है। इस प्रतीत्यात्मक ज्ञान के सम्बन्ध में

दो और बातें हैं। पहली बात यह है कि वासनाओं के वश में रहने के कारण हमको जितना ज्ञान होना सम्भव है उतना भी नहीं होने पाता। वासना वस्तु के किसी एक अंश में अभिरुचि रखती है जिससे उसकी तृप्ति हो सकती है, शेष बातें उसके लिए निरर्थक हैं। अतः वह उधर ध्यान नहीं देती और साधारण मनुष्य जो वासना के हाथ में डोरी से बँधे बन्दर के समान नाचता है उतना ही ज्ञान पाकर तुष्ट हो जाता है जितना वासना के अनुकूल है। काम-वासनाविद्ध पुरुष के सामने यदि एक स्त्री आती है तो वह केवल उसके रूप का भूखा होता है। उसको उस स्त्री के शरीर-मात्र से मतलब है—उसके लिए वह कामिनी है और बस। उसकी बुद्धि और विद्या, उसके भीतर दहकते वात्सल्य, उसका सतीत्व, उसकी आत्मा का होना न होना बराबर हैं। इन चीजों का अस्तित्व वहीं तक है जहाँ तक कि यह कामोद्दीपक हैं, काम-वासना की तृप्ति में सहकारी हो सकती हैं। यह एक उग्र-सा उदाहरण है परन्तु प्रत्येक मनुष्य अपने अनुभव से देख सकता है कि राग-द्वेष के कारण हमारा ज्ञान बहुत ही परिमित रहता है। किसी के गुण हमसे छिपे रह जाते हैं, किसी के अवगुण। जिसके प्रति न राग होता है न द्वेष उसका ज्ञान भी एकाङ्गी होता है या वह हमारे ज्ञान का सम्यग्रूपेण विषय बनता ही नहीं। दूसरी बात यह है कि हम अपने को इस प्रकार के ज्ञान के विषय में परतंत्र पाते हैं। हमारी इन्द्रियों की शक्ति परिमित है, शरीर की शक्ति परिमित है, बुद्धि की शक्ति परिमित है। भावों पर वश नहीं—किसी ओर बलवान् खिँचाव होता है, किसी ओर से उतने ही बल से चित्त हटता है। बुद्धि इस

आकर्षण-अपकर्षण का कारण नहीं बता सकती, कभी-कभी बुद्धि जिसको ठीक नहीं कहती उसी ओर अधिक रुझान होता है। रोगी जानता है कि मीठा खाना मेरे लिए हानिकर है, वैद्य ने मना किया है, फिर भी मीठा खाने को जी चाहता है; ऐसा भी होता है कि यदि कोई न देखता हुआ तो खा भी लेता है।

परन्तु हमारे ज्ञान का एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें हम अपने को स्वतंत्र अनुभव करते हैं। यह आचार का, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का, क्षेत्र है। प्रत्येक मनुष्य को यह प्रतीत होता है कि मेरी संकल्प-शक्ति अपरतंत्र है। उस पर कोई रुकावट नहीं है। मैं अपने संकल्प के अनुसार काम चाहे न कर सकूँ, शारीरिक दुर्बलतायें, बाह्य परिस्थितियाँ, ज्ञान की कमी, यह सब मिलकर बाधा डाल दें परन्तु संकल्प करने में मुझे कोई नहीं रोक सकता। मैं जो संकल्प या इच्छा करता हूँ वह स्वतंत्र होती है। इस सम्बन्ध में कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुम् समर्थ हूँ, चाहे जैसा संकल्प करूँ, चाहे जिस प्रकार की इच्छा करूँ। जो संकल्प होता है वह मेरा अपना अकेला संकल्प होता है। इस संकल्प की कुछ विशेषतायें होती हैं। हमारा साधारण ज्ञान, आस्तित्वात्मक होता है। संकल्प औचित्यात्मक होता है। हमको जो ज्ञान होता है उसका स्वरूप होता है—ऐसा है। पेड़ है, हाथी की सूँड़ लम्बी होती है, लंका के दक्षिण में समुद्र है, चन्द्रमा पर पहाड़ हैं, काग़ज़ का रंग बादामी है, दो और दो चार होते हैं। परन्तु संकल्प का रूप होता है—ऐसा होना चाहिए। हमको यह ज्ञान नहीं होता कि पेड़ की पत्ती हरी होनी चाहिए, सुन्दर वन के जङ्गल में व्याघ्र होना चाहिए, तीन और दो पाँच होना चाहिए

परन्तु यह संकल्प उठता है कि डूबते को बचाना चाहिए, भूखे को अन्न देना चाहिए, दुर्बल को न सताना चाहिए। यह 'चाहिए' ही इस प्रकार की वृत्ति की विशेषता है और आज्ञा का रूप धारण करता है। 'गिरे हुए को उठाना चाहिए' का दूसरा रूप है 'गिरे हुए को उठाओ।' कर्त्तव्यता का यही स्वरूप है। यदि यह सामान्य इन्द्रिय और तर्क से उत्पन्न ज्ञान होता तो इसका रूप यह होता—'लोग गिरे हुओं को उठाया करते हैं', या 'गिरे हुओं को उठाने से प्रायः कई प्रकार के लाभ होते देखे गये हैं।' कर्त्तव्यबुद्धि जिस समय उदय होती है उस समय उसके सामने पहले की नज़ीरें नहीं रहतीं कि इसके पहले अमुक-अमुक ने भी ऐसे अवसर पर ऐसा ही किया है और न फल का विचार रहता है कि ऐसा काम करने से कई प्रकार के लाभ होते रहे हैं और सम्भवतः इस बार भी होंगे। कर्त्तव्यबुद्धि तो तात्कालिक होती है, काम का अवसर आने पर एकाएक उदय होती है। हाँ, यह होता है कि उसके जागृत होने के बाद हम तर्क करके उसको शास्त्र-व्यवस्था, सत्पुरुषों के आचरण, भावी परिणाम आदि की दृष्टि से देखते हैं और उसका औचित्य स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं।

कर्त्तव्यबुद्धि दिक्काल के बन्धन से मुक्त होती है। वह कार्य्य-कारण-शृङ्खला में भी नहीं बँधी होती। इस अवसर पर ऐसा क्यों करना चाहिए ऐसा सोचकर कर्त्तव्यभाव नहीं जागता। उसके जागने के बाद हम 'क्यों' का हिसाब बैठाते हैं। परन्तु दिक्काल तथा कार्य्य-कारण परम्परा से स्वतंत्र होने का अर्थ तो यह हुआ कि कर्त्तव्यभाव, सदाचार-प्रेरणा, अन्तःकरण के धर्म्मों से आरोपित नहीं है। इसका तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि हमको साधारणतः जगत् के स्वरूप का—

भौतिक और आध्यात्मिक जगत् का—साक्षात्कार नहीं होता और हम उसे अन्तःकरण के धर्म्मों के पर्दे के भीतर से ही देख पाते हैं परन्तु कभी-कभी हमको उसके स्वरूप की प्रत्यक्ष झलक मिल जाती है। क्षण भर के लिए अन्तःकरण के दिगादि धर्म्मों का आवरण हट जाता है और बुद्धि जगत् के शुद्ध रूप के तदाकार बन जाती है। बस॰ उसी क्षण में हमको कर्त्तव्यता की भावना होती है—इस समय ऐसा ही हो सकता है, यही होना चाहिए। सामान्य ज्ञान तो प्रतीति स्वरूप है। आज इन्द्रियों की और शरीर की बनावट एक प्रकार की है तो कुछ प्रतीति हो रही है, कल इन बातों में कुछ परिवर्तन हो जाय तो दूसरे प्रकार की प्रतीति होने लगेगी। अतः इस ज्ञान का स्वरूप 'प्रतीति होता है', संक्षेप में 'है' ही हो सकता है। परन्तु जगत् का वास्तविक रूप तो जैसा है वैसा है, उसमें दो बातों की जगह नहीं हो सकती। इसी लिए जब कभी क्षण भर के लिए वास्तविक रूप का साक्षात्कार हो जाता है तो 'अन्यथा नहीं हो सकता' अर्थात् 'ऐसा ही होना चाहिए' बुद्धि होती है। इसी लिए, सत्य के स्वरूप से उत्थित होने के कारण, यह अन्तः-प्रेरणा विश्वसनीय और अनुगमनीय है।

अन्तःप्रेरणा की परख

फिर भी एक आशङ्का हो सकती है। सम्भव है, यह अन्तःप्रेरणा हमारे राग-द्वेष से कलुषित हो जाती हो। यदि किसी मनुष्य के चित्त में किसी अवसर पर यह बुद्धि उठे कि मेरा यह कर्त्तव्य है तो उसे यह शङ्का हो सकती है कि उसकी उद्बुद्ध या विलीन वासनाओं ने, जिनका स्यात् उसे पता भी न होगा, वैसा भाव उत्पन्न कर दिया हो।

इसकी दो परीक्षायें बतलाई जाती हैं। जो बातें वासनाओं के, राग-द्वेष के, अनुकूल होती हैं वे सुखद, मीठी लगती हैं। जो बात वासनाओं के विपरीत होती है वह कड़वी लगती है। अतः यदि अन्तःप्रेरणा कड़वी, अनाकर्षक लगे तो उसे विश्वसनीय समझना चाहिए। आग में जलना बुरा लगता है, क्योंकि यह अभिनिवेश, जीवित रहने की वासना के विरुद्ध है। इसलिए यदि कभी ऐसी प्रेरणा हो कि इस समय मुझे आग में कूदना ही चाहिए तो यह प्रेरणा विश्वसनीय है, ऐसे अवसर पर आग में कूदना सदाचार है। दूसरी बात यह है कि सच्ची अन्तःप्रेरणा, सदाचार, के साथ फल का ध्यान नहीं रहता, दुराचार के साथ फल का ध्यान लगा रहता है। 'मुझे सच बोलना चाहिए' बस ऐसा ही भाव होता है पर विपरीत भाव इस प्रकार का होता है 'मुझे झूठ बोलना चाहिए क्योंकि इस समय सच बोलने से अमुक क्षति हो जायगी या झूठ बोलने से अमुक लाभ होगा।' जिस काम के लिए कारण ढूँढ़ना पड़ता है या यों कहिए कि जिस काम को अपनी वकालत करने के लिए कारण लेकर उदय होना पड़ता है वह सदाचार नहीं है। जो सच किसी उद्देश्यविशेष की सिद्धि के लिए बोला जाता है वह भी सदाचार के रूप से आदरणीय नहीं हो सकता।

एक तीसरी परख भी है। यह विचार करना चाहिए कि क्या मैं यह पसन्द करूँगा कि सब लोग ऐसा ही आचरण करने लगें? यदि मैं ऐसा पसन्द करता हूँ तब तो वह अन्तःप्रेरणा सच्ची है, वह काम सदाचार है, अन्यथा नहीं है। वरन् मेरी किसी वासना की सन्तति है। सच बोलनेवाला यह पसन्द करेगा कि सब लोग सच बोला करें,

धर्म्मात्मा मनुष्य यह पसन्द करेगा कि सब लोग धर्म्मात्मा हो जायँ पर चोर यह कभी न चाहेगा कि सब लोग चोरी करने लगें। ऐसा होने से तो उसके घर भी चोरी होने लगेगी। झूठा व्यक्ति यह कभी नहीं चाहता कि सब लोग झूठे बन जायँ। झूठे का बाज़ार तो तभी चलता है जब और लोग सच बोलते हैं और एक दूसरे का विश्वास करते हैं।

यह मत गम्भीर विचार करने योग्य है। इसके कहने का यह तात्पर्य्य नहीं है कि इस पर शङ्कायें नहीं उठतीं। पहला आक्षेप तो यह है कि इस बात को प्रमाणित करना होगा कि हमको बाह्य जगत् की जो प्रतीति इन्द्रियादि के द्वारा होती है वह यथार्थ नहीं है परन्तु किसी-किसी समय हम दिक्काल और कार्य्य-कारण-शृङ्खला का अतिक्रमण करके उसके सच्चे रूप का साक्षात्कार करते हैं। यह भी प्रमाणित करना होगा कि कर्त्तव्यबुद्धि सचमुच इस साक्षात्कार का फल है और कुलजातिदेशप्रथा और शिक्षा का परिणाम नहीं है। सदाचार की जो परखें बताई गई हैं वह भी असन्दिग्ध नहीं हैं। क्या सदाचारी को सदाचार सदा कड़ुआ ही लगता है? क्या वह उमंग के साथ अच्छे कामों में प्रवृत्त नहीं होता? यदि यही बात है तो फिर उसमें और उस व्यक्ति में भेद ही क्या है जिससे गला दबाकर सच बुलवाया जाता है या दान दिलाया जाता है या जलते घर में फँसे हुए लोगों को बचाने के लिए भेजा जाता है? क्या जो काम अच्छे प्रतीत होते हैं वे सबके लिए व्यापक बनाये जा सकते हैं? क्या संन्यास लेनेवाला यह कह सकता है कि सब लोगों को संन्यासी हो जाना चाहिए? यदि नहीं, तो फिर तो देशकालपात्र के बन्धन आगये।

इस सारे शास्त्रार्थ से तो यह शंका होती है कि सदाचार जैसी कोई चीज़ है ही नहीं। जब कोई सदाचार का समीचीन लक्षण बतला ही नहीं सकता तब फिर यह क्यों न कहें कि सदाचार कोई निश्चित वस्तु नहीं है। इस पर यह कहा जा सकता है कि जब किसी वस्तु का कोई लक्षण नहीं बतलाया जा सकता तब भी यह नहीं कह सकते कि उस वस्तु की सत्ता नहीं है। रही लक्षण बताने की बात, सो उस काम में कभी किसी को सफलता हो जायगी। समुद्र के किसी भाग की गहराई के सम्बन्ध में दस आदमी दस अनुमान करें और दसों ग़लत निकलें तो क्या इससे यह मान लिया जाय कि गहराई की सत्ता ही नहीं है? हम ऐसा मानेंगे कि यहाँ गहराई तो है पर अभी उसकी ठीक नाप नहीं हो सकी है। आगे चलकर कोई ठीक उपाय निकल आयेगा। इसी प्रकार हम यह मान सकते हैं कि सदाचार की सत्ता है और उसका ठीक लक्षण भी समझ में आ जायगा।

अन्तर्द्वन्द्व

इस सम्बन्ध में एक और विचारणीय प्रश्न है। ऐसे बहुत-से अवसर होते हैं जब मनुष्य के चित्त में एक द्वन्द्व-सा मच जाता है। उसकी कर्त्तव्यबुद्धि एक ओर प्रेरित करती है, कोई और शक्ति किसी दूसरी ओर खींचती है। दुर्योधन ने जो बात महाभारत में कही थी—

जानामि धर्म्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्म्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदिस्थितेन, यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि॥

(मैं धर्म्म को जानता हूँ पर उसमें प्रवृत्त नहीं होता, अधर्म्म को जानता हूँ पर उससे निवृत्त नहीं होता। हृदय में कोई अज्ञात देव

है, वह जैसा कराता है वैसा करता हूँ।) वह बहुतों के मन में उठती है, चाहे सब लोग अपनी अक्षमता को किसी हृदयस्थ देव के माथे न मढ़ते हों। यह द्वन्द्व क्यों उठता है? धर्म्माधर्म्म अर्थात् कर्त्तव्या-कर्त्तव्य बुद्धि से संघर्ष करनेवाली चीज़ क्या है? वासना, रागद्वेष या कुछ और? 'यह चीज़ सदाचार-बुद्धि को क्यों दबा लेती है? क्या कोई मनुष्य प्रकृत्या, जन्मना ऐसा होता है कि उसकी सदाचार-बुद्धि वासना से अभिभूत हो जाती है, दूसरे शब्दों में वह सदाचारी हो ही नहीं सकता ? यदि ऐसा है तो क्यों? वह अपने दुराचरण के लिए दायी माना जायगा या नहीं? दूसरे व्यक्ति की सदाचार-बुद्धि वासना को कैसे दबा लेती है? क्या इस युद्ध में शिक्षा, लोक-व्यवहार आदि का भी कुछ हाथ रहता है? यदि रहता है तो सदाचारी को अपने सदाचार के लिए कितना श्रेय मिलना चाहिए? क्या सचमुच हमारे भीतर कोई अदृष्ट शक्ति है जो हमसे जैसा चाहती है करा लेती है? यदि ऐसा है तो फिर अपने आचरण के लिए हमारा दायित्व कहाँ तक है?

कर्म्म-द्वारा अभेद दर्शन

जो-जो प्रश्न इस सम्बन्ध में उठते हैं और जो कठिनाइयाँ अन्य सिद्धान्तों को मानने में पड़ती हैं उनको ध्यान में रखते हुए एक और सिद्धान्त प्रतिपादित किया जाता है। जगत् में एक ही सत्य पदार्थ है। वह नित्य, चिद्घन ज्ञानमय, आनन्दस्वरूप है। दिक्, काल अन्तःकरण की परिधि के बाहर है, वाणी उसको शब्दों के साँचे में उतार नहीं सकती। उसे एक सत्पदार्थ का स्वभाव कहिए, स्वगुण

कहिए, अज्ञानात्मिका माया है। यह माया उससे अभिन्न होते हुए भी भिन्न है क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप है और माया अज्ञानस्वरूप। इसी माया के संयोग से उस एक में नानात्व की प्रतीति होती है। नानात्व दो प्रकार का है—चेतन, अचेतन। चेतन नानात्व में ब्रह्मा से लेकर एक कोष्ठवालों तक सब जीव हैं, अचेतन में वे सब पदार्थ हैं जो भौतिक विज्ञानों के विषय हैं। चेतन-अचेतन के मेल से वह दृग्विषय घटित होते हैं जिनका अध्ययन मनोविज्ञान और जीव-शास्त्र करते हैं। चेतन-अचेतन की समष्टि का ही नाम जगत् है। यह जगत् उस एक सत्पदार्थ का ही प्रसार है, अतः उससे अभिन्न, सत्य है; माया की प्रसूति होने से मिथ्या, असत्य, प्रतीति-मात्र है। जीव वही सत्, चित्, आनन्दस्वरूप ज्ञानमय पदार्थ है परन्तु अविद्या से अभिभूत होने के कारण अपने को दुर्बल, दुःखी, अज्ञानी पाता है। परन्तु वह निरन्तर अपने स्वरूप की खोज में रहता है, अज्ञान के बन्धन को तोड़ने में यत्नशील रहता है। जब तक बन्धन टूटता नहीं तब तक उसको चैन नहीं मिलता, इसी लिए बराबर एक अतुष्टि, एक कर्म्म का अनुभव होता रहता है। यह जगत् उससे भिन्न तो है नहीं, अविद्या के कारण उसकी विजातीय रूप में प्रतीति होती है। ज्यों-ज्यों अविद्या की कमी होती है त्यों-त्यों अपने स्वरूप का साक्षात्कार होता है; अपने और जगत् के बीच में जो पर्दा है वह उठता जाता है और जगत् के साथ अपनी अनन्यता का अनुभव होता जाता है। जगत् का स्वरूप भी अपने प्रतीयमान नानात्व को छोड़कर सच्चिदानन्दमय एकत्व की ओर बढ़ता जाता है।

इस अनुभव की प्राप्ति के कई प्रकार हैं। पहला प्रकार तो शास्त्रीय

ज्ञान है। ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति होती है त्यों-त्यों एकत्व का भाव बढ़ता है। हम पहिले खण्ड में देख आये हैं कि भौतिक विज्ञान, गणित, जीव-शास्त्र और मनोविज्ञान सब ही अपने-अपने क्षेत्र में एकता की ओर बढ़ रहे हैं और ऐसा जान पड़ता है कि सबका समन्वय होकर, सब विज्ञानों का सारभूत, कोई एक पदार्थ प्रतिपादित होगा। उस पदार्थ को कुछ लोग जड़ कल्पित करते हैं, कुछ चेतन। यह तर्क का विषय है कि मूल जड़ पदार्थ से यह जड़चेतनात्मक विशाल जगत् निःसृत हुआ है या किसी मूल चेतन पदार्थ से। परन्तु तर्क तर्क ही है। हम तर्क से यह सिद्ध कर दें कि मिष्ठ नामवाच्य कोई रस है जो लवणादि सब रसों से भिन्न है और शर्करा, आम, दूध आदि द्रव्यों के स्वादों का मूल रूप है परन्तु इस तर्क से मीठेपन का अनुभव नहीं होगा। मीठापन क्या नहीं है यह तो कुछ समझ में आ जायगा पर मीठापन कैसा होता है यह तो प्रत्यक्ष अनुभव का ही विषय है। हाँ, एक बार अनुभव हो जाने के बाद दूसरी चीज़ों को चखने पर हम यह कह सकेंगे कि किसका स्वाद मीठा है, किसका नहीं।

शास्त्रीय ज्ञान साक्षात्कार नहीं करा सकता, परन्तु चित्त को समाहृत करने से साक्षात्कार हो सकता है। चित्त की वृत्तियों के निरुद्ध होने से अन्तःकरण के डाले हुए पर्दे उठ जाते हैं, मायाकृत उपाधियों की निवृत्ति हो जाती है, अज्ञान तिरोहित हो जाता है और अपने अखण्ड, एक रस, चिदानन्दस्वरूप का साक्षात्कार होता है। द्रष्टा जगन्मय हो जाता है, जगत् द्रष्टा में लीन हो जाता है। स्व, पर का भेद मिट जाता है। यह तो पराकाष्ठा की बात हुई। ज्यों-ज्यों योग

का अभ्यास बढ़ता है त्यों-त्यों द्वैत का व्यवधान झीना पड़ता जाता है, अपने स्वरूप का अनुभव बढ़ता जाता है, 'मैं बँधा हूँ' यह भाव क्षीण होता जाता है। अपने में जो कमी की, अतुष्टि की, अनुभूति होती थी उसकी तनुता के साथ-साथ आनन्द की वृद्धि होती है। ज्यों-ज्यों अपने स्वरूप का बोध होता है, अपनी अपरिच्छिन्न शक्ति का पता लगता है, त्यों-त्यों क्षुद्र विषयों की ओर से चित्त हटता है, वासनायें क्षीण होती हैं। जब अपने सिवाय कुछ, और कोई दूसरा है ही नहीं, तब राग और द्वेष के लिए कहाँ स्थान रह जाता है ? उस अवस्था में तो जो भी काम होगा वह इस एकता, अद्वैतता, परमानन्दस्वरूपिता और अनन्त ज्ञान शक्तिमत्ता का द्योतक होगा। जिस प्रकार बादल बिना माँगे स्वभावत: जल की वृष्टि करता है उसी प्रकार मनुष्य से स्वभावत: धर्म्म का, सदाचार का आचरण होगा।

सदाचार का यही लक्षण है, अच्छे काम का इसी में अच्छापन है कि वह अद्वैत भावना से ओत-प्रोत रहता है, जगत् के सत्य स्वरूप का दर्पण होता है। जिस समय मनुष्य अपने पृथक्‌पन को जितना ही भूल जाता है उस समय उसके काम में उतना ही अच्छापन होता है। साधारण अवस्था में अविद्या का आवरण इतना घना होता है कि द्वैतभाव ठोस, घनीभूत रहता है। प्रतिक्षण मैं, तू, वह, अपना, पराया यही भेद चित्त में बसे रहते हैं। इसमें मेरा हित है, वह मेरे हित का विरोधी है, इसी वातावरण में सारे काम होते हैं। आनन्द का अपार, अटूट भाण्डार भरा पड़ा है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति यही समझता है कि मुझे दूसरों से छीनकर सुख प्राप्त करना है। एक से दूसरा जन्म होता है, दूसरे से तीसरे शरीर में जाते हैं पर यह नानात्व भाव नहीं

छूटता, रागद्वेष के बन्धन दृढ़ से दृढ़तर होते जाते हैं। इसके साथ-साथ, आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप के साक्षात्कार के लिए सतत यत्नशील रहता है। हमारे सभी काम पिछले कर्म्मों के संस्कार और आत्मा के बन्धन तोड़ने के प्रयत्न के द्वन्द्व से उत्पन्न होते हैं। जब कभी आत्मा की शक्ति प्रबल पड़ती है उस समय जो काम होते हैं उनमें दिक्काल कार्य्यकारण-भाव का अतिवर्तन होता है और द्वैत-भावना का अभाव। वही काम सदाचार में परिगणित होते हैं। उनके करते समय अपने स्वरूप की क्षणिक झलक मिल जाती है।

साधारणत: मैं अपने को औरों से पृथक् मानता हूँ। अपना पेट भरता हूँ, अपने प्राणों की रक्षा में तत्पर रहता हूँ। अपने बाद उन लोगों का ध्यान रखता हूँ जिनमें थोड़ा-बहुत आत्मभाव का आरोप करता हूँ, जिनको आत्मीय समझता हूँ। परन्तु कभी-कभी किसी नंगे-भूखे को देखकर दया आती है। द्वैतभाव चला नहीं जाता। यह ज्ञान रहता है कि वह मुझसे भिन्न है, मैं दे रहा हूँ, वह ले रहा है। फिर भी उसके भूख-प्यास के प्रति वैसा ही व्यवहार करता हूँ जैसा कि अपने साथ। कुछ हद तक मेरे उसके बीच का द्वैतावरण दूर हो जाता है। यही इस काम का अच्छापन है। परन्तु कोई क्षण ऐसा आता है जब कि मैं किसी को आग में जलता देखकर 'यह, मैं' भूल जाता हूँ, जैसे आप ही जल रहा हूँ वैसा ही प्रयत्न करता हूँ, आग में कूद पड़ता हूँ। अग्नि से स्पर्श होने पर चाहे फिर द्वैतभाव जागे पर आग में कूदते समय तो वह तिरोहित हो जाता है। मैं उस व्यक्ति के साथ एक, तन्मय, हो जाता हूँ। मेरे अद्वय स्वरूप का मुझे तत्काल के लिए साक्षात्कार हो जाता है।

जो काम शुद्ध सदाचार में आते हैं उन सबका यही लक्षण है। इस आत्मविस्मृति—अपने पृथकपन को भूल जाने—के कारण ही इन सब कामों का स्वरूप आत्मोत्सर्ग, आत्मबलि, से परिपूर्ण होता है। माता का सन्तान के साथ प्रेम, देशभक्त का देशवासियों के साथ प्रेम, सन्तों का पतित जीवों के साथ प्रेम—इन सबमें यह बात विद्यमान है। सती अपने पति पर अपने को न्योछावर कर सकती है परन्तु वारविलासिनी ऐसा नहीं कर सकती क्योंकि व्यभिचार का लक्ष्य भोग होता है और भोग द्वैधभाव—भोक्ता और भोग्य के भेद—की भित्ति पर अवलम्बित रहता है। झूठ, चोरी, सभी दुराचारों की जड़ द्वैतभावना है। यह अन्य है, मैं अन्य हूँ—मुझे इसे दबाकर अपना अमुक काम निकालना है।

जहाँ अपना सुखलक्ष्य बनाया जायगा वहाँ द्वैतभावना रहेगी परन्तु आत्मा का अद्वय स्वरूप आनन्दघन है। इसलिए जब अच्छा काम होगा अर्थात् जब न्यूनाधिक अभेद की अनुभूति होगी उस समय निष्प्रयास ही आनन्द की अनुभूति होगी। अच्छा काम हमको इसी लिए पसन्द है कि उसमें कुछ अपने स्वरूप की झलक मिल जाती है। इसी लिए ऐसे कामों में आत्माभिव्यक्ति, आत्माभिवृद्धि का अनुभव होता है। आपस के नित्य के व्यवहार में जब हम लोगों को अपनी वासनाओं की तृप्ति करते देखते हैं तब हमारी भी वासनायें प्रबुद्ध होती हैं, रागद्वेष बढ़ता है, परन्तु जब किसी को अच्छा काम करते देखते हैं तब उसकी ओर चित्त आकृष्ट होता है, थोड़ी देर के लिए तन्मयता प्राप्त हो जाती है, अपने स्वरूप की झलक मिल जाती है। शत्रु को, रङ्गमञ्च पर अभिनेता को, भी सत्कार्य्य में प्रवृत्त देखकर

यह भाव जागता है क्योंकि इस प्रकार का काम हमारे, चाहे हम कितने भी दुर्वासनाग्रस्त क्यों न हों, स्वरूप के अनुकूल है। बस अच्छे काम की यही कसौटी है—काम द्वैतमूलक है या अद्वैतमूलक। यदि कर्त्ता और जिसके साथ काम किया जाय उन दोनों में अभेद भावना बढ़ती या स्थापित होती है तब तो काम अच्छा है, अन्यथा बुरा है।

ऐसे काम करने की क्षमता वहीं तक होगी जहाँ तक कि आत्मा का बल वासनाओं के बल से अधिक हो। यह कुछ तो प्राक्तन संस्कारों से उत्पन्न अपूर्व से होता है पर कुछ हद तक बाहरी परिस्थिति, शिक्षा, शास्त्राध्ययन और मनन, यम, नियम तथा योगाभ्यास-द्वारा चित्तसंयम पर भी निर्भर करता है। सार्वजनिक कामों में भाग लेने से भी मनुष्य मैं, तू की सङ्कीर्ण परिधि के बाहर निकलता है। राज का और समाज का यह धर्म्म है कि ऐसी व्यवस्था करें जिसमें व्यक्ति को आत्मोन्नति करने का अधिकाधिक अवसर मिले—व्यक्ति का यह कर्त्तव्य है कि ऐसे प्रत्येक अवसर से पूरा-पूरा लाभ उठाये। इस प्रकार वह एक दिन अपने सारे मायाकृत बन्धनों से छूट जायगा।

× × × ×

शिवम् का सत्यम् से सम्बन्ध

हम इस खण्ड में सदाचार के प्रश्न पर विचार कर रहे थे। मूल प्रश्न तीन थे—हम क्यों सदाचारी बनें? हम अपने कर्म्मों के करने में स्वतन्त्र हैं या परतन्त्र और कर्म्मों के लिए दायी हैं या नहीं? और सदाचार का स्वरूप, उसका अचूक लक्षण, क्या है? हमने देखा कि

ये तीनों प्रश्न एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। मुख्यतः तीसरे प्रश्न के उत्तर पर शेष दोनों का उत्तर निर्भर करता है। इन प्रश्नों के जो कई उत्तर दिये जाते हैं उनका भी सूक्ष्म आलोचन हुआ, इस आलोचन से यह बात निकली कि यह प्रश्न भी दार्शनिक है और इस खण्ड का विषय भी पहले खण्ड का ही विषय है। हम जगत् और जगत् के मूलभूत सत्य के सम्बन्ध में जो मत स्थापित करेंगे उसी के अनुसार आचार-सम्बन्धी प्रश्नों का भी उत्तर देंगे और उसी उत्तर के अनुसार अपनी समाज और राज-व्यवस्था, न्यायविधान और शिक्षा-पद्धति रक्खेंगे। यदि बिना इन प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर समझे हम कर्म्मों में प्रवृत्त होते हैं तो सम्भव है कि अपने श्रेयस् के स्थान में अकल्याण कर रहे हों। फिर वही मरीचिका का उदाहरण देता हूँ जो पहले खण्ड में दिया जा चुका है। बिना सोचे-समझे दौड़कर मृग उन्नति नहीं करता। जीव का स्वरूप क्या है, उसका लक्ष्य क्या है और क्या होना चाहिए, उस लक्ष्य की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है यह सब जानकर जो प्रयत्न किया जायगा, जो काम किया जायगा, वह अच्छा होगा, सदाचार होगा। ऐसा ही ज्ञान क्या सामूहिक कामों का भी समुचित आधार हो सकता है।

ओ३म् तमसो मा ज्योतिर्गमय

तृतीय खण्ड

सुन्दरम्

१

सौन्दर्य्य का लक्षण

अर्थ

हम 'अच्छा' शब्द का प्रयोग तीन प्रसङ्गों में करते हैं। अमुक काम अच्छा है, अमुक मनुष्य अच्छा है, ऐसा प्रयोग सभी करते हैं। अच्छा काम किसे कहते हैं इस विषय पर द्वितीय खण्ड में विचार हुआ है। जो मनुष्य प्रायः अच्छा काम करता है वह अच्छा मनुष्य कहलायेगा। परन्तु जब हम कहते हैं कि यह घर अच्छा है, यह मेज़ अच्छी है, यह कुत्ता अच्छा है, यह पुस्तक अच्छी है, यह अध्यापक अच्छा है, तो अच्छा शब्द का चाहे जो अर्थ हो पर वह उससे तो भिन्न है जिसमें सच बोलना अच्छा कहा जाता है। और जब चित्र या फूल या सङ्गीत या मूर्त्ति या मनुष्य का शरीर या मन्दिर अच्छा कहा जाता है तब तो अर्थ और भी भिन्न प्रतीत होता है। इस खण्ड में हम इन प्रयोगों पर विचार करना चाहते हैं।

हमने पहले प्रकार के पाँच उदाहरण लिये हैं—घर, मेज़, कुत्ता, पुस्तक और अध्यापक। इनमें एक अचल है, तीन निर्जीव माने जाते हैं, एक पशु है, एक मनुष्य है, दो प्रकृति-सृजित और तीन मनुष्य-निर्मित हैं। फिर इनमें वह कौन-सा गुण है जिसके कारण इन सबको अच्छा कहा है? इनकी अच्छाई किस बात में है? विचार करने से प्रतीत होगा कि यहाँ अच्छाई का एक-मात्र लक्षण

उपयोगिता है। इन चीज़ों का संग्रह किसी विशेष उद्देश्य से किया जाता है। यदि वह उद्देश्य सिद्ध होता है तो वस्तु अच्छी कहलाती है, अन्यथा नहीं। दफ़्तर के लिए जो घर बनाया जाता है वह बहुधा रहने की सुविधा का नहीं होता, इसलिए जो मनुष्य अपने कुटुम्ब के लिए घर ढूँढ रहा हो वह उसे अच्छा न कहेगा। शिकारी कुत्ता उस मनुष्य के लिए अच्छा नहीं होता जो भेड़-बकरी के गल्ले की रखवाली के लिए कुत्ता चाहता है। चाय पीने की मेज़ लिखने-पढ़ने के लिए अच्छी नहीं होती। यदि गणित पढ़ना है तो जो पुस्तक इस विषय का ठीक ज्ञान करा सकती है वह अच्छी है। व्याकरण पढ़नेवाले के लिए धर्म्मशास्त्री अच्छा अध्यापक नहीं हो सकता। अत: इन उदाहरणों में अच्छाई इन पदार्थों का निरपेक्ष गुण नहीं है, वरन् प्रस्थानभेद सापेक्ष है। निर्बल को सताना कभी कहीं अच्छा नहीं होता परन्तु जो वस्तु एक काम के लिए व्यर्थ है वही दूसरे काम के लिए उपयोगी हो सकती है अर्थात् जो वस्तु एक जगह और एक समय बेअच्छी, बुरी, है वही दूसरी जगह और दूसरे समय अच्छी हो सकती है।

सौन्दर्य्य और उपयोगिता

परन्तु क्या यही अथ उस समय भी होता है जब हम ताजमहल या मीनाक्षी के मन्दिर को अच्छा कहते हैं? ताजमहल में एक स्त्री का शरीर गड़ा है। इस काम के लिए भूमि के भीतर दो गज़ जगह चाहिए। यदि किसी कारण से यह आवश्यक हो कि वह जगह बराबर देख पड़ती रहे तो उसके ऊपर एक छोटी-सी कोठरी बनाई

जा सकती है। यदि कोठरी पत्थर की हो तो सैकड़ों बरस तक चली जायगी। उपयोगिता तो यहीं समाप्त हो जाती है। इसी प्रकार जहाँ तक मन्दिर इसलिए बनाया जाता है कि उसमें देव-प्रतिमा रक्खी जा सके और भोग-पूजा हो सके वहाँ तक तो एक छोटी-सी कोठरी पर्य्याप्त है। यदि ऐसा प्रबन्ध करना हो कि कई हज़ार आदमी एक साथ दर्शन कर सकें तो एक लम्बा कमरा या मंडप चाहिए। परन्तु इन दोनों इमारतों में जो कँगूरे और कलश बने हैं, पत्थर में खुदाई की गई है, लम्बी-चौड़ी कोठरियाँ और दालानें बनी हैं उनका शव के गाड़ने से और देवी की मूर्ति की प्रतिष्ठा करने से क्या सम्बन्ध है? ये बातें तो अनुपयोगी हैं, फिर भी हम इन दोनों इमारतों को अच्छी कहते हैं।

सौन्दर्य्य और यथार्थ चित्रण

यदि किसी व्यक्ति का फ़ोटो या हाथ से चित्र खींचा जाय और वह ठीक उतरे तो उसको अच्छा कहने का अर्थ यह होगा कि वह यथावत् प्रतिकृत है। उसकी उपयोगिता भी स्पष्ट है। जब और जहाँ वह व्यक्ति उपस्थित न हो वहाँ चित्र भेजने से काम चल सकता है। लोग एक बार चित्र देखकर उसको पहचान सकते हैं। परन्तु जब चित्रकार लज्जा, प्रतीक्षा, व्रीड़ा, चिन्ता आदि के चित्र खींचता है और हम ऐसे चित्रों को अच्छा कहते हैं, उस समय हमारा क्या अभिप्राय होता है?

यदि कवि किसी लड़ाई का वर्णन लिखता है तो वह तो एक वास्तविक घटना का शब्दचित्र या फ़ोटो है, इसलिए उसकी अच्छाई

इस बात पर निर्भर करती है कि जिस प्रकार तलवार चली, सिपाही आगे बढ़े, लोग कट-मर कर गिरे, उत्साहित हुए, हतोत्साह हुए, यह सब जैसा का तैसा दिखला दिया जाय। पर नीचे की पंक्तियों में भी क्या इसी प्रकार की अच्छाई है?

सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण पटल की ग्रंथि खोल;
तम जलनिधि का बन मधुमन्थन।
ज्योत्स्ना सरिता का आलिंगन;
वह रजत गौर उज्ज्वल जीवन,
आलोक पुरुष! मङ्गल चेतन!
केवल प्रकाश का था कलोल,
मधु-किरनों की थी लहर लोल।
बन गया तमस का अलक जाल,
सर्वाङ्ग ज्योतिमय था विशाल;
अन्तर्निनाद ध्वनि से पूरित,
थी शून्यभेदिनी सत्ता चित्;
नटराज स्वयं थे नृत्य-निरत,
था अन्तरिक्ष प्रहसित मुखरित;
स्वर लय होकर दे रहे ताल,
थे लुप्त हो रहे दिशा काल।
लीला का स्पन्दित आह्लाद।
वह प्रभापुंज चितिमय प्रसाद;

'प्रसाद की कामायनी से'

तुलसीदास (सुन्दरता कहँ सुन्दर करई, छबि गृह दीपसिखा जनु बरई) में किस चीज़ का चित्र खींच रहे हैं ? कालिदास की शकुन्तला में क्या अच्छाई है ?

मनुष्य का शरीर भी अच्छा कहा जाता है। पुरुष के लिए स्त्री और स्त्री के लिए पुरुष भोग्य सामग्री है और काम-तृप्ति का साधन है। यहाँ तक तो उपयोगिता की बात हुई परन्तु पिता अपनी लड़की और माता अपने पुत्र के शरीर को भी अच्छा कहती है। क्या यहाँ भी वही उपयोगिता की दृष्टि रहती है ? जब हम किसी पहलवान के शरीर को अच्छा कहते हैं तब वहाँ उपयोगिता का भाव कहाँ तक रहता है ?

कमल के फूल में क्या अच्छाई होती है ? गन्ध तो इत्र की शीशी के भीतर भी भरा जा सकता है। ज्योत्स्ना की अच्छाई उसके प्रकाश का ही नाम है या कुछ और ? उद्यान में फूल, घास, सड़क, पानी के सिवाय और क्या होता है ? फिर जब एक बाग़ को बहुत अच्छा कहते हैं तब हमारा क्या तात्पर्य्य होता है ? वीणा पर बजती हुई रागिनी क्यों अच्छी कहलाती है, जब कि उसमें कोई बोल, समझ में आनेवाला वाक्य होता ही नहीं ? उदयशङ्कर के नृत्य में क्या अच्छापन है ?

अभी तक हम जिन चीज़ों को अच्छा कहते आये हैं उनका दूसरा विशेषण 'सुन्दर' है और अच्छाई का पर्य्याय 'सौन्दर्य्य' है परन्तु शब्द बदल जाने से प्रश्न समाप्त नहीं हुआ। सौन्दर्य्य क्या है ? हम किसी वस्तु को सुन्दर क्यों कहते हैं ? इतने उदाहरण दिये गये हैं। सब एक दूसरे से भिन्न हैं। कोई प्राकृतिक है; कोई कृत्रिम; कोई

स्थावर है, कोई जङ्गम; कोई सप्राण है, कोई अप्राण। परन्तु इनमें कोई न कोई तो समानता होगी जिसके कारण हम इन सबको सुन्दर कहते हैं। यह समानता हमको अमूर्त पदार्थों में भी प्रतीत होती है। यह विचार सुन्दर है, ऐसा भी कहा जाता है। इस समानता का, जिसका नाम सौन्दर्य्य—सुन्दरता—है, स्वरूप क्या है ?

सुन्दर वस्तुओं की कुछ विशेषतायें

जब हम उन वस्तुओं को ध्यान से देखते हैं जो सुन्दर कही जाती हैं तब उनकी बनावट में कुछ विशेषतायें देख पड़ती हैं। यदि वह मूर्त हैं तो उनमें सरल और चाप रेखाओं से इस प्रकार काम लिया गया होता है कि रेखागणित की विशिष्ट आकृतियाँ जैसे त्रिभुज, गोल, आदि बन जायँ। रेखाओं का इतस्ततः व्यस्त पड़ा रहना अच्छा नहीं लगता। परन्तु एक ही प्रकार की आकृति बराबर दुहराई नहीं जाती। ऐसा होने से जी ऊब उठता है। बीच बीच में नक़शा बदल दिया जाता है। यदि लंबी कविता है तो छन्द और रस बदल जाता है। दूसरी विशेषता सममात्रिता है। जैसा एक ओर होता है वैसा ही दूसरी ओर भी। नाप और आकार दोनों में समानता होती है। यदि मनुष्य का एक हाथ लम्बा हो, एक आँख छोटी हो, एक पाँव मोटा हो तो वह भद्दा लगता है। घर के एक सिरे पर कलश लगे हों, दूसरा सादा हो तो वह अच्छा नहीं लगता। तीसरी विशेषता साम-ञ्जस्य है। एक दूसरे के साथ वही अवयव होते हैं जो मेल खाते हैं। सात स्वरों से ही सारी भाषा, सारा सङ्गीत भरा है परन्तु वही स्वर एक क्रम से उच्चरित होने से रागिनी, बिना क्रम के चीत्कार

उत्पन्न करते हैं। गोरे शरीर पर नीला वस्त्र, साँवले शरीर पर पीताम्बर खिलता है। छोटी गर्दन पर बड़ा सिर नहीं फबता। चौथी विशेषता अवयवों का साधुभाव है। साधुभाव का अर्थ यह है कि कोई अवयव दूसरे अवयवों को दबाता नहीं वरन् सब मिलकर एक दूसरे को सामने लाते हैं। यदि नाक इतनी लम्बी हो गई कि उसने ओठों को दबा लिया या घास का मैदान फूलों की क्यारियों को जगह नहीं देता तो अच्छा नहीं लगता। पाँचवीं विशेषता आकांक्षापूर्ति है। ऐसा प्रतीत होता है कि जो अंग जिस जगह आया है वह जगह उसकी आकांक्षा कर रही थी, खोज रही थी। कोई अंग अपनी जगह से हट जाय तो सूनापन जान पड़ता है। गाने में कोई स्वर कोमल से तीव्र हो जाय, बजाने में ताल सम से एक निमेष पहले पड़ जाय, पद्य में कोई मात्रा कम हो जाय, तो एक चोट-सी लगती है। प्रत्येक जगह एक विशेष चीज़ के लिए पुकारती-सी है और प्रत्येक चीज़ एक विशेष जगह के लिए बनी हुई-सी होती है।

सुन्दर वस्तुओं की विशेषताओं की यह कोई वैज्ञानिक तालिका नहीं है। जो कोई 'सुन्दर' शब्द का प्रयोग करता है वह इनको और इन जैसी कुछ और बातों को स्वयं सोच सकता है। परन्तु अब प्रश्न यह है कि क्या इन विशेषताओं के समूह का ही नाम सौन्दर्य्य है? जब हम किसी वस्तु में इन विशेषताओं को पाते हैं तब उसे सुन्दर कहने लगते हैं? या वस्तु को देखते ही यह भाव उत्पन्न होता है कि यह सुन्दर है और फिर वैज्ञानिक विश्लेषण करने पर उसमें ये विशेषतायें मिलती हैं? इन प्रश्नों का उत्तर अपना अनुभव ही दे सकता है। यदि प्रथम पक्ष ठीक है तो सौन्दर्य्य की अनुभूति

तात्कालिक नहीं हो सकती। पहले विशेषताओं पर दृष्टि जायगी, फिर बुद्धि यह निश्चय करेगी कि वस्तु सुन्दर है। यदि दूसरा पक्ष ठीक है तो सौन्दर्य्य की अनुभूति तात्कालिक होगी। पृथक् विशेषताओं का ज्ञान या तो होगा ही नहीं या पीछे से विवेचना करने पर होगा।

सौन्दर्य्य एक अपूर्व गुण है

इस द्वितीय मत के अनुसार सौन्दर्य्य एक अपूर्व गुण है जो इन विशेषताओं का सहचारी होते हुए भी इनसे भिन्न होता है। जिस समय उसका अनुभव होता है उस समय इनका अनुभव नहीं होता, जब ध्यान इन पर जाता है तब सौन्दर्य्य अन्तर्हित हो जाता है। 'शेरा' कहने से मुझे अपने कुत्ते का बोध होता है। उसका रंग, उसका डील-डौल, उसका स्वभाव, उसकी बोली—सम्पूर्ण शेरा—इस शब्द का अर्थ है या यह अर्थ न 'शे' में है न 'रा' में। शे के बाद रा का उच्चारण किये बिना शेरा का उच्चारण नहीं हो सकता और इस शब्द का उच्चारण होने से ही उस कुत्ते का बोध होता है पर शेरा शब्द का अर्थ अपूर्व है जो विश्लेषण करने से टुकड़ों में नहीं मिल सकता। हम अर्थों को इसी प्रकार ग्रहण करते हैं। बच्चा सम्पूर्ण घोड़ा देखता है और सम्पूर्ण घोड़ा शब्द सुनकर सीखता है। घोड़े के हाथ, पाँव आदि पृथक् अंगों का ज्ञान और घोड़ा शब्द के घ, ओ, ड़, आ अंगों का ज्ञान तो उसे पीछे होता है। 'राम जाता है' सुनने पर जिस अर्थ का अवगम होता है वह 'राम' और 'जाता' और 'है' में नहीं है। न वह टुकड़े-टुकड़े करके इनमें मिलता है, न राम के अर्थ को जाता के अर्थ से मिलाने से मिल सकता है, यह एक वैसा

अवयवी है जो अपने अवयवों के जोड़ से बड़े होते हैं। सौन्दर्य्य भी कुछ इसी प्रकार की चीज़ प्रतीत होता है।

सुन्दर वस्तुएँ गुणों और भावनाओं का प्रतीक होती हैं

विचार करने से सुन्दर वस्तुओं में एक बात और देख पड़ती है। वह गुणों का, भावनाओं का, प्रतीक होती हैं। स्त्री का एक गुण पत्नीत्व, कामिनीत्व है। जिस स्त्री के शरीर से, भाव-भङ्गी से यह गुण अधिक टपकता है वह अधिक सुन्दर होगी। परन्तु स्त्री का दूसरा गुण मातृत्व है। जिस मनुष्य की दृष्टि में यह गुण अधिक महत्त्व रखता है उसको वही स्त्री-विग्रह सुन्दर जँचेगा जिसमें यह गुण व्यक्त हुआ है। बच्चे को दूध पिलाती हुई बकरी में भी उसको सौन्दर्य्य की अनुभूति होगी। इसी प्रकार कोई विग्रह व्रीड़ा, कोई क्षुधा, कोई वीर्य्य, कोई शौर्य्य, कोई विद्या को व्यक्त करता है। चित्त की गम्भीर वृत्तियाँ जैसे चिन्ता, शान्ति, दया, प्रेम, भक्ति, समवेदना भी शब्दों में, चित्रों में, जीवित शरीरों में और गान-वाद्य की स्वरलहरियों में व्यक्त होती हैं। छन्द की मात्रा और संगीत में स्वरों का आरोह-अवरोह भावों के चढ़ाव-उतार की मूर्ति खड़ी कर देते हैं। लक्षणा और उपमा की सहायता से बड़े ही सूक्ष्म विचार भी सामने लाये जा सकते हैं। भेदाभेद के यह शब्द-चित्र इसके अच्छे उदाहरण हैं, 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ', 'सो तैं ताहिं तोहिं नहिं भेदा, बारि बीचि इव गावहिं वेदा।' जगत् के मायामयत्व का यह रूपक भी कैसा अच्छा है—

सून्य भीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे॥

सृष्टि और प्रलय—एकत्व से नानात्व की निःसृति और नानात्व का एकत्व में प्रवेश—भी तूलिका और शब्दविन्यास-द्वारा चित्रित किये जाते हैं।

जैसे यह सूक्ष्म गुण मूर्त किये जाते हैं वैसे ही स्थूल गुण जैसे दृढ़ता, परस्पर समाश्रय, महदाकारिता, लघुता, आत्मावलम्बन भी व्यक्त होते हैं और जहाँ इनको अभिव्यक्ति होती है वहाँ भी हमको सौन्दर्य्य का अनुभव होता है।

सौन्दर्य्य-शास्त्र का नाम कला है। जो अपनी कृतियों में सौन्दर्य्य ला सकता है वह कलाकार है और जो कला में सौन्दर्य्य का अनुभव करता है वह कलावित् कहलाता है।

कलाओं में तारतम्य

गुण तो सूक्ष्म, अमूर्त, हैं परन्तु जिस सामग्री का कलाकार उपयोग करता है वह भौतिक और गुण की अपेक्षा स्थूल होती है। सामग्री की स्थूलता के तारतम्य के कारण कलाओं में भी भेद होता है। वास्तुकार की कठिनाई सबसे अधिक है। उसको ईंट-पत्थर जैसी ठोस सामग्री से काम लेना पड़ता है और फिर जो चीज़ उसे बनानी पड़ती है उसकी उपयोगिता का भी ध्यान रखना पड़ता है। यदि घर बन रहा है तो रहनेवालों की सुविधा पहले देखनी पड़ती है; रसोंई बनानी है, बैठक बनानी है, सोने के कमरे बनाने हैं। इस-लिए ऐसी इमारतों में सौन्दर्य्य की बात बहुत नहीं लाई जा सकती। परन्तु जिन इमारतों में उपयोगिता का अंश थोड़ा होता है उनमें वास्तुकार का हाथ खुला रहता है। इसी लिए मन्दिर, समाधिगृह

और प्रासाद सुन्दर बनाये जा सकते हैं। इनसे दृढ़ता, महत्ता, परस्पराश्रय को व्यक्त कर सकते हैं। श्मशानभूमि के चैत्यों की प्रतिकृति शैवमन्दिर के गर्भगृह का सादा गुम्मद वैराग्य और असङ्ग का पाठ पढ़ाता है। विस्तृत मैदान में अकेला खड़ा ऊँचा विजयस्तम्भ दृढ़ता और स्वावलम्बन का प्रत्यक्ष विग्रह है।

मूर्तिकार की सामग्री भी ठोस होती है। वह या तो पत्थर से काम लेता है या धातुओं से। पर उसकी कृतियों में उपयोगिता का बन्धन नहीं होता। इसलिए वह कई सूक्ष्म भावों को व्यक्त कर सकता है। धातु गलाकर द्रव की जा सकती है, इससे उसको और भी सुविधा होती है। मानव-हृदय के बहुत-से भाव सैकड़ों वर्षों के लिए मूर्ति में बाँध दिये जाते हैं। मनुष्य मूर्तियों-द्वारा अपने उपास्य के गुणों को भी व्यक्त करने में समर्थ होता है। अनन्त करुणा, दाक्षिण्य, अभयदान, अविचल शान्ति—महापुरुषों और देव-देवियों के यह गुण धातु और प्रस्तर की प्रतिमाओं से उपासकों को अपनी ओर खींचती हैं।

चित्रकार की सामग्री और भी सूक्ष्म है। रंगों की सहायता से वह ऐसे भावों को भी व्यक्त कर सकता है जो स्थूल द्रव्यों में नहीं बाँधे जा सकते। थोड़ी-सी जगह में कई व्यक्तियों को जमा करना, उनको विभिन्न अनुभूतियों को एक साथ व्यक्त करना, मनुष्य पर प्राकृतिक पूर्वपीठिका का प्रभाव दिखलाना—इन सब बातों की सुविधा मूर्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को अधिक है।

कवि, वह गद्य लिखता हो या पद्य, शब्दों से काम लेता है। शब्द पहले की सभी सामग्री की अपेक्षा तरल और सूक्ष्म हैं। उनको

सैकड़ों प्रकार से मिलाया जा सकता है और प्रत्येक प्रकार से एक नया छन्द, एक नया राग निकल आता है। ध्वनि से, स्वरों के औदात्त्यादि भेदों से, मूर्धा के कम्पन से, उच्चारण के वेग से, स्वरपात से, भावों के अनेक सूक्ष्म भेद प्रदर्शित किये जा सकते हैं।

सङ्गीत का स्थान काव्य से ऊँचा है। कवि की सामग्री शब्द है। शब्द में जहाँ बड़ी तरलता है, वहाँ एक यह दोष है कि वह उन्हीं लोगों के काम का है जो उस भाषा को जानते हों जिसका वह अङ्ग हैं। केवल कोष और व्याकरण से काम नहीं चलता क्योंकि अपने सैकड़ों वर्षों के इतिहास में शब्द अपने साथ ऐसा बहुत-सा बारीक अर्थ समेट लेते हैं जो न तो व्युत्पत्ति से समझ में आ सकता है, न सन्धि-समास के नियमों से निकल सकता है। सती या सहधर्मिणी शब्द जो भाव हिन्दू-संस्कृति में निमग्न व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न करते हैं, वह क्या किसी कोष में मिल सकता है? गङ्गा, यमुना, सरस्वती नदियों के नाम नहीं हैं, आर्य्यजाति की सहस्र-सहस्र भावनाओं और आशाओं के नाम हैं। इसी लिए काव्य का पूरा आनन्द अनुवाद में नहीं मिलता। परन्तु सङ्गीत शब्दों से उठकर स्वरों से काम लेता है। शब्दों का प्रयोग होता भी है तो थोड़ा। ध्यान शब्दों पर कम, स्वरसञ्चरण पर अधिक रहता है। ऊँचा सङ्गीत, चाहे वह गेय हो या वाद्य केवल स्वरों से काम लेता है। स्वरों की भाषा सार्वभौम है, इसलिए अच्छा सङ्गीत मनुष्यों को ही नहीं, पशु-पक्षी तक को आकर्षित करता है। भाषा के बन्धन से मुक्त होकर मनुष्य के हृदय के गम्भीर प्रदेशों में प्रवेश करता है और चित्त की ऊँची भूमिकाओं को स्पर्श करता है। चतुर गायक अपने स्वरों को प्रत्येक हृदय के अन्तर्निनाद

के स्वरों से मिलाता है; जो वीणा के तार छेड़ने जानता है वह उन शक्तियों को दोलायित करता है जो इस विश्व को प्रकम्पित कर रही है; नटवर के चरण ब्रह्माण्डों के स्पन्दन के साथ ताल देते हैं।

पहले विशेष का ज्ञान होता है या सामान्य का ?

यह गुण क्या हैं जिनका अनुभव हमको सुन्दर वस्तुओं के द्वारा होता है ? इसके दो प्रकार के उत्तर हो सकते हैं। एक उत्तर तो यह है कि यह केवल द्रष्टृसापेक्ष्य हैं, अर्थात् हमारे अन्तःकरण के बाहर इनकी कोई सत्ता नहीं है। हम दस श्वेत वस्तुओं को देखते हैं। उनमें अनेक भेद हैं परन्तु एक अनुभूति उन सबमें समान रूप से मिलती है। उसको हमारी बुद्धि पृथक् करके श्वेतत्व नाम दे देती है। इसी प्रकार महत्ता, अणुत्व, करुणा, मातृत्व आदि सभी गुण बुद्धि-द्वारा स्थापित किये गये हैं। विशेषों के ज्ञान के बाद बुद्धि उनमें से सामान्य को निकालती है। चूँकि वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित करना बुद्धि का धर्म्म है, इसलिए वह विशेषों को इस प्रकार सामान्य गुण की डोर में बाँध देती है।

पर एक दूसरा मत भी है। वह यह है कि सामान्यों की स्वतन्त्र सत्ता है। वह विशेषों में विद्यमान रहते हैं इसलिए बुद्धि उन्हें देखती है। इस मत के अनुसार द्रष्टा को बीजरूप से सामान्यों का ज्ञान पहले से रहता है, अभ्यास से यह ज्ञान, जो अन्यथा प्रसुप्त-सा रह जाता, जागृत हो उठता है।

जो लोग ऐसा मानते हैं कि विशेषों के ज्ञान के उपरान्त बुद्धि उनमें से सामान्य गुण निकालती है वह तो यह कहेंगे

कि दस-पाँच लाल वस्तुओं को देखने के बाद बच्चा उनमें से 'लाल' सामान्य निकालेगा। अब किसी ऐसे बच्चे से जिसने कोई और लाल वस्तु नहीं देखी है एक लाल कपड़ा दिखलाकर यदि यह कहा जाय कि यह कपड़ा लाल है, तो वह इस वाक्य का क्या अर्थ निकालेगा? उसने और लाल वस्तुएँ देखी नहीं हैं इसलिए इस सामान्य से परिचित नहीं है। तो फिर उसके लिए यह वाक्य निरर्थक होगा, वह 'लाल' की ओर उसी प्रकार ध्यान नहीं दे सकता जिस प्रकार कि इस वाक्य पर कि 'इस कपड़े का सूत यरावदा चर्खे से मगनवाड़ी में उत्पन्न रुई से काता गया था'। इस वाक्य को उसकी बुद्धि पकड़ नहीं सकती। अब जब इस पहली बार 'लाल' उसके ध्यान में नहीं आया तब दूसरी बार लाल काग़ज़ देखने पर इस बार के अनुभव को पिछली बार के अनुभव से न मिला सकेगा। तीसरी, चौथी बार भी यही दशा होगी अतः हज़ार बार भी लाल वस्तुओं को देखकर उसे 'लाल' सामान्य का ज्ञान न होगा। इसी लिए इस दूसरे मत के माननेवाले कहते हैं कि बच्चे को सभी सामान्यों का ज्ञान पहले से रहता है। विशेष को देखकर वह पहचान में आ जाता है। यदि कभी जीवन भर कोई लाल वस्तु न देखी जाय तो यह ज्ञान प्रसुप्त रहेगा।

अब प्रश्न यह होगा कि जीव को इन सामान्यों का ज्ञान पहले से कैसे रहता है? इस प्रश्न के भी दो उत्तर हो सकते हैं।

नित्य सामान्य

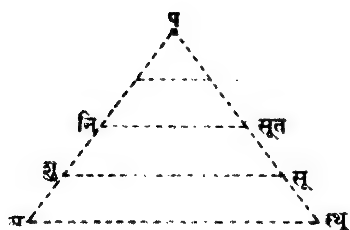
एक तो यह है कि जिस प्रकार मनुष्य की आत्मा शाश्वत है, उसी प्रकार यह गुण नित्य हैं। गुण अनेक प्रकार के हैं और असंख्य

हैं। सत्य, अहिंसा, धैर्य्य, रङ्ग, रूप, आकृति, अणुत्व, महत्त्व, दृढ़ता, यह सभी गुण हैं और सभी नित्य हैं। जगत् में वस्तुतः आत्मा और गुण हैं। आत्मा को इनका नित्य साक्षात्कार होता है, नित्य ज्ञान रहता है। परन्तु रागद्वेष के कारण बुद्धि कलुषित रहने से सामान्यतः जगत् का स्वरूप विकृत हो जाता है और हमारा ज्ञान परिछिन्न हो जाता है। फिर भी जब किसी वस्तु में किसी गुण को मूर्त देखते हैं, तो पहले के ज्ञान की स्मृति हो आती है और वह गुण पूर्व परिचित होने के कारण पहचान में आ जाता है। फिर जब और वस्तुओं में भी उसको देखते हैं तब इनको एक ही कोटि में रखते हैं। अतः सामान्य के ज्ञान से विशेषों का ज्ञान होता है।

सामान्य द्रष्टा से अभिन्न हैं

दूसरा मत यह है कि जगत् के मूल में एक अद्वय चिदानन्द-घन पदार्थ है। उसके मायारूपी स्वभाव के कारण नानात्व की प्रतीति होती है। वही द्रष्टा, ज्ञाता, भोक्ता है, वही दृश्य, ज्ञेय, भोग्य है और वही दर्शन, ज्ञान और भोग है। अविद्या की स्थूलता से वही एक ओर जीव और अन्तःकरण तथा अन्तःकरण के बुद्धि आदि धर्म्म हुआ है, दूसरी ओर क्रमशः त्रिगुणात्मिका प्रकृति, आकाशादि महाभूत, शब्दादि तन्मात्रा, यह प्रतीयमान भौतिक विश्व, इसको सञ्चालित करनेवाली विद्युदादि शक्ति तथा अणुता, महत्ता, दृढ़ता आदि गुण हुआ है। वही अनुभव करनेवाला है, वही अनुभव का साधन अन्तःकरण और इन्द्रिय है, वही अनुभव है और वही अनुभव का विषय जगत् है। अविद्या और तज्जनित रागद्वेष के कारण

चित्त इतस्ततः फेंका-फेंका फिरता है। कहीं टिकता नहीं। बाहरी विषयों में भोग्य बुद्धि रहती है। इसका जो स्वरूप है उसमें अभिरुचि नहीं रहती, वरन् यह खोज रहती है कि मैं इससे क्या लाभ उठा सकता हूँ। परन्तु कभी-कभी भोगबुद्धि कुछ दब जाती है और शुद्ध दर्शन, ज्ञान, बुद्धि ऊपर आती है। उस समय वस्तु के स्वरूप का निरपेक्ष ज्ञान होता है—यह कैसी है, न कि यह मेरे किस काम की है। अब वस्तुओं का स्वरूप तो बुद्धि के कलुष के कारण स्थूल देख पड़ता है, अन्यथा सूक्ष्म है। यदि द्रष्टा का अन्तःकरण पूर्णतया निर्मल हो तो उसे सर्वत्र चिदानन्द का ही अनुभव हो पर क्षण भर के लिए रागद्वेष के कुछ कम हो जाने पर भी चित्त मलिन ही रहता है, इसलिए वस्तुओं में भी थोड़ी-सी ही सूक्ष्मता आ पाती है। यह बात नीचे के चित्र से कुछ समझ में आती है।



वस्तुतः तो एक ही पदार्थ है जो य पर दिखलाया गया है। अविद्या के कारण वही द्रष्टा और दृश्य हुआ है। जिस समय वह रागद्वेष से अभिभूत मलिन बुद्धि में रहता है उस समय उसके लिए जगत् भी स्थूल स्थू रहता है। यदि वह कुछ थोड़ा-सा शुद्ध होकर शु

रूप में आता है तो जगत् भी सूक्ष्म होकर सू प्रतीत होता है। और निर्मल नि होने पर जगत् भी सूक्ष्मतर सूत होता है। यहाँ तक कि अविद्या के पूर्ण नाश होने पर दोनों प पर मिल जाते हैं। स्थूलता का हटना और सूक्ष्मता का आना दृश्य का द्रष्टा के निकट आना है। जो पहले द्रव्य था वही उन सूक्ष्म गुणों में लय हो जाता है जिनका वह स्थूल रूप था। जो ठोस विस्तृत भूखण्ड था वह अन्त:करण के दिक्-काल धर्म्मों में गुँधा हुआ क्षितितत्त्व रह जाता है। इसी प्रकार क्रमशः ऊपर की भूमिकाओं में और सूक्ष्मता आती है। प्रत्येक पद पर द्रष्टा अन्त:करण के पर्दे में से अपने को ही देखता है। इस बात को जानता नहीं पर सभी तत्त्व, सभी गुण उसी के धर्म्म, उसी के स्वरूप हैं। इसी लिए परिचित प्रतीत होते हैं। उसका स्वरूप आनन्दमय है, इसी लिए आत्मदर्शन में आनन्द की अनुभूति होती है। इसी आनन्द को सौन्दर्य्य के सम्बन्ध में कलावित् लोग रस कहते हैं।

सौन्दर्य्यानुभूति अद्वैत दर्शन है

सौन्दर्य्यानुभूति-काल में हम भौतिक वस्तु को नहीं वरन् उस गुण, उस भाव को देखते हैं जो उस समय उसमें से क्षरित होता है। बच्चे को दूध पिलाती सूअरी की कीचड़ से लिपटी देह, राख के रंग का चमड़ा, सुई जैसे नुकीले बाल, भद्दा थूथन, गुर्राने जैसी कड़ी बोली या हठीले स्वभाव, पर हमारा ध्यान नहीं जाता—हमारे सामने तो मूर्तिमान् मातृत्व होता है। भावुक उपासक को उसके शरीर में जगद्धात्री के दर्शन होंगे। परन्तु यह गुण और भाव द्रष्टा से भिन्न नहीं हैं और द्रष्टा जगत् से भिन्न नहीं है। अत: इनके द्वारा वह अपने को, जगत्

के सत्य स्वरूप को, देखता है। यदि कोई वस्तु स्थूल गुणों को व्यक्त करती है तो उसके द्वारा जगत् के स्थूल स्वरूप का, अपने नीचे के स्तरों का, अनुभव होगा। यदि उसमें सूक्ष्म गुण व्यक्त होते हैं तो अनुभव भी उतने ही ऊँची भूमिका का होता है। यदि कई गुण व्यक्त होते हैं तो अनुभव भी उतना ही पूर्ण होता है। स्त्री में कामिनीत्व गुण है। यह गुण भोग की अपेक्षा करता है और द्वैत भावना पर निर्भर है, फिर भी थोड़ी देर के लिए दो प्राणियों को निकट ले आता है। दोष इसमें यह है कि जिनको मिलाता है उनको दूसरों से दूर करता है। इसलिए इसमें द्वैत भावना और दृढ़ होती है। परन्तु मातृत्व में यह बात नहीं है, या बहुत कम है। उसमें आत्मोत्सर्ग और आत्मविस्मृति है। जिस मूर्ति में, गौरी और स्कन्दमाता दोनों का भाव मिलाया जा सकेगा वह नारीत्व का पूर्ण चित्र होगा। उसका सौन्दर्य्य बड़े ही उत्कृष्ट कोटि का होगा। जो कलाकार पत्थर या धातु में, तूलिका से या शब्दों में अर्द्धनारीश्वर-भाव व्यक्त कर सकेगा उसकी कृति को देखने मात्र से इस चिदचित जगत् का रहस्य जिस भाँति बोधगत होगा वैसा बड़ी-बड़ी पोथियों के वर्षों के अध्ययन से भी नहीं हो सकता।

सौन्दर्य्य हमको अपने अन्तःकरण और इस प्रतीयमान जगत् के द्वैत और द्वन्द्व से ऊपर खींचकर विश्व के सत्य-स्वरूप की ओर ले जाता है। विश्व द्रष्टा से अभिन्न है अतः विश्व का सत्य स्वरूप द्रष्टा का अपना सच्चा रूप है। जिस वस्तु में इसकी जितनी क्षमता होगी वह उतनी ही सुन्दर होगी। यह भी स्पष्ट है कि सौन्दर्य्य अनुभव का विषय है, वर्णन का नहीं।

प्रत्येक सौन्दर्य्य-प्रेमी को विचार करना चाहिए कि उसको इनमें कौन-सा मत अधिक समीचीन जँचता है।

२

सौन्दर्य्य की अनुभूति

सौन्दर्य्य शब्द का प्रयोग तो प्रायः सभी करते हैं पर यह देखा जाता है कि जिस वस्तु को एक मनुष्य सुन्दर समझता है उसमें दूसरे को कोई सौन्दर्य्य नहीं देख पड़ता। इसके सिवाय एक ही मनुष्य को वही वस्तु कभी सुन्दर लगती है, कभी फीकी जँचती है। इसका क्या कारण है?

पहले प्रश्न को लीजिए। यदि एक मनुष्य किसी वस्तु को असुन्दर समझता है तो इसके दो कारण हो सकते हैं। या तो वह उन भावों का साक्षात्कार नहीं कर पाता जो उसमें व्यक्त हो रहे हैं या उनको अप्रशस्त समझता है। होली के दिन शराब में मस्तों के दल डफ पर अश्लील गाने गाते फिरते हैं। कुछ लोग अपने घर पर बैठे सितार, तानपुरे और मृदङ्ग पर राग-रागिनी और पक्के गाने सुनते हैं। दोनों जगह संगीत है पर एक को दूसरे समुदाय के संगीत में रस नहीं आता। जो आदमी बाज़ार में बिकनेवाले भड़कीले रंगों का देव-देवी नामधारी मर्द-औरतों के चित्रों को पसन्द करता है वह प्राचीन शैली के चित्रों को नीरस पाता है। लम्बी और पतली भुजायें, कान तक फैली हुई लम्बी आँखें, उसकी समझ में ही नहीं आतीं। अब यदि कोई अशिक्षित और असंस्कृत व्यक्ति उन कृतियों को सुन्दर नहीं कहता जिनके सौन्दर्य्य पर शिक्षित और संस्कृत व्यक्ति मुग्ध हो

जाते हैं तो विशेष आश्चर्य्य नहीं होता। यह माना जा सकता है कि उसकी बुद्धि इतनी उन्नत नहीं है कि इन विशेषों में निहित सामान्यों को पकड़ सके। ज्यों-ज्यों बुद्धि का परिष्कार होगा त्यों-त्यों अधिक सूक्ष्म भावों को ग्रहण करने की शक्ति बढ़ेगी। परन्तु शिक्षितों के विषय में यह तो कहा नहीं जा सकता कि वह लोग अश्लील गानों और गोरे रङ्ग की युवतियों और साँवले रङ्ग के गठीले युवकों के चित्रों में निहित भावों को समझ नहीं सकते। फिर वह इनमें रस क्यों नहीं पाते, इनको सुन्दर क्यों नहीं कहते? इसका कारण यही होगा कि उनको स्थूल भावों और गुणों की अपेक्षा सूक्ष्म गुण और भाव अधिक आकर्षक लगते होंगे, ऊँचे प्रतीत होते होंगे।

गुणों और भावों का उत्कर्षापकर्ष

एक भाव या गुण दूसरे से किस बात में ऊँचा होता है? केवल शिक्षित लोगों से सम्बन्ध होने से तो बड़ाई आती नहीं, अन्यथा मद्यपान को भी अच्छा मानना पड़ेगा। विचार करने से प्रतीत होगा कि कुछ भावों में आत्मविस्मृति का अंश अधिक है। जितनी देर तक वह रहते हैं द्रष्टा अपने आपको और स्व-पर के भेद को भूला रहता है। अतः जो वस्तु जितनी ही अद्वैतपरक होगी वह उतनी ही सुन्दर लगेगी।

वस्तुएँ किन अवस्थाओं में सुन्दर प्रतीत होती हैं?

वस्तुओं में वह क्या बातें होती हैं जिनसे वह हममें आत्म-साक्षात्कार अर्थात् न्यूनाधिक तन्मयता उत्पन्न कर सकती हैं। पहली बात तो यह है कि गुण इस प्रकार व्यक्त हो रहा हो कि उसको न पहचानना असम्भव हो जाय। किसी-किसी वस्तु की दृढ़ता, ठोसपन,

कोमलता, ऐसी होती है कि उस पर ध्यान जाये बिना रह नहीं सकता। कोई-कोई ध्यानी मूर्ति ऐसी होती है कि उसकी ओर सबका चित्त खिँचता है। यों तो उसको देखकर बहुत-से भाव उठ सकते हैं—जैसे इसके पेट है, क्या खाता रहा होगा ? परन्तु गाम्भीर्य्य, अविचल शान्ति, निर्वात दीप जैसा निश्चल प्रज्ञालोक, के आगे सब अन्य भाव दब जाते हैं। दूसरी बात यह है कि उसमें कोई ऐसी बात न हो जो हमारी वासनाओं को प्रायः उद्दीप्त किया करती है। साधारण मनुष्य काम, क्रोध, लोभ का पुतला है। रागद्वेष में सना रहता है। सैकड़ों मूढ़ग्राह उसे जकड़े रहते हैं। यदि उस वस्तु में जो प्रत्यक्ष की जा रही है कोई ऐसा अंश है जो उसके जीवन की किसी घटना से सम्बद्ध है, जो उसके दुराग्रहों में से किसी एक का सहचारी है, जो उसकी वासनाओं को बहकने का अवसर देता है, तो एकाग्रता न हो सकेगी, सौन्दर्य्य का अनुभव न होगा। जिसका कोई सम्बन्धी ताज-महल के बाग़ में मारा गया हो उसको ताजमहल के सौन्दर्य्य का अनुभव होना कठिन है—मृत आत्मीय की स्मृति बीच में आवरण बनकर खड़ी रहेगी। लालची मनुष्य स्वर्ण-प्रतिमा के सौन्दर्य्य-दर्शन से वञ्चित रहता है—उसकी बुद्धि सोने का मूल्य आँकने में व्यस्त रहती है। जो मूर्तिपूजा का शत्रु है वह किसी अच्छे से अच्छे मन्दिर की कला से भी आकृष्ट नहीं हो सकता—यही सोचता रहेगा कि यह कितनी जल्दी ढहाया जा सकता है।

द्रष्टा के लिए अनुकूल वातावरण

अब वस्तुओं पर तो हमारा अधिकार है नहीं, अतः यह सोचना चाहिए कि हम मनुष्य के साथ ऐसा क्या उपाय कर सकते हैं कि

सौन्दर्य की अनुभूति हो। यह बात तो निर्विवाद है कि शिक्षा अच्छी होनी चाहिए; कुल के, पाठशाला के, समाज के, संस्कार अच्छे होने चाहिए; आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि कलह, ईर्ष्या, दरिद्रता, उत्पीड़न न हो। ऐसी ही परिस्थिति में बुद्धि विशेषों में से सामान्यों को खींच सकेगी और सूक्ष्म भावों और गुणों की ओर आकृष्ट हो सकेगी।

विरति

दूसरी आवश्यकता इस बात की है कि अपना चित्त रागद्वेष से मुक्त रखने का प्रयत्न किया जाय। जितना ही आत्मसंयम होगा, जितना ही बुद्धि को इन्द्रियों के विषयों से दूर रक्खा जायगा, जितना ही ऐसे विषयों का, जैसे विज्ञान या काव्य जिनका सम्बन्ध हमारे क्षुद्र दैनिक जीवन से कम है, अध्ययन होगा उतना ही सौन्दर्य्य की अनुभूति होगी। इस अन्तिम बात पर स्यात् किसी-किसी को आश्चर्य्य होगा। यह समझा जाता है कि विज्ञान या दर्शन या राजनीति शुष्क विषय हैं, इनको पढ़नेवाला कला की ओर से अन्धा, बहिरा हो जाता है। यह आक्षेप अंशतः ठीक है। जो लोग विज्ञानादि को जीवन के प्रवाह से पृथक् करके केवल पाठ्य विषय बना लेते हैं उनकी पढ़ाई दोषपूर्ण है। एक शीशी में बन्द करके जल के विषय में बहुत कुछ जाना जा सकता है परन्तु शीशी में तरंगें नहीं उठ सकतीं, शीशी में का जल पूर्णिमा की रात में चन्द्रमा के चरणों को चूमने के लिए ऊपर नहीं उठ सकता। यदि विज्ञान या राजनीति को मनुष्य-जीवन को समझने की कुञ्जी बनाकर अध्ययन किया जाय

तो वह सौन्दर्य्य-दर्शन में सहायक हों। फिर भी एक बात है। इनको अकेले अध्ययन करनेवाले को भी सौन्दर्य्य का अनुभव होता है पर उसका क्षेत्र दूसरा होता है। गणित के विद्यार्थी को क्लिष्ट सवाल को हल करने में, वैद्य को असाध्यप्राय रोग का निदान करने में, रासायनिक को नये तत्त्व या मिश्र के अनुसन्धान करने में भी तन्मयता प्राप्त होती है, सौन्दर्य्य का अनुभव होता है, विश्व के सत्य-स्वरूप का साक्षात्कार होता है और आत्मा के आनन्दस्वरूप रस की प्राप्ति होती है।

स्रोतापत्ति

सबसे बड़ी बात एकाग्रता का अभ्यास है। यदि जगत् विभु है तो उसके प्रतीयमान रूप के नीचे उसका सत्यरूप भी विभु होना चाहिए। उसके शुद्ध सत्यरूप और प्रतीयमान स्थूलरूप के बीच में क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल होनेवाले रूपस्तर भी विभु होंगे, फिर सौन्दर्य्य का अनुभव भी सर्वत्र और त्रिकाल में होना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं। इसका कारण यही हो सकता है कि द्रष्टा का चित्त विक्षिप्त रहता है। यदि चित्त की वृत्ति विषयों से पराङ्मुख हो तो सर्वत्र सौन्दर्य्य का साक्षात्कार हो। चित्त को इधर-उधर से हटाकर स्रोतापन्न कर देना, प्रवाह में छोड़ देना, किसी विशेष अनुभव, यहाँ तक कि सौन्दर्य के अनुभव का भी प्रयत्न न करना—यही उत्कृष्ट उपाय है। ऐसा करने से प्रकृति अपने रङ्गमञ्च पर आप ही पटपरिवर्तन और वेषपरिवर्तन करती है और द्रष्टा निष्प्रयास इस नाटक को, विश्व के सृजन और विलय को, सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से पुनः सूक्ष्म के बनने को, विकास और सङ्कोच को, देखता है। कवियों ने नदियों के कलकल और

पत्तियों के मरमर में, पतङ्ग के जलने और मृगछौने की आँखों में, नीरव निशीथ में और जनसंकुल नगरों की खाक छानती भिखारिन के सूखे स्तनों से चिपटे बच्चे के भूखे स्वर में, कृषक के लुटे खेतों और विधवा के क्रन्दन में, मुग्धा की मुस्कराहट और सैनिक की आत्मबलि में, जगत् के रहस्य की कुञ्जी पाई है। यह कुञ्जी वाणी में नहीं आती, दूसरे को दी नहीं जा सकती—बस इसका पता बताया जा सकता है।

योगाभ्यास-द्वारा एकाग्रता

इस प्रकार की एकाग्रता में एक कमी होती है। इसे स्थायी बनाना कठिन होता है और अपनी इच्छा-मात्र से सम्पादन करना भी कठिन होता है। इसी लिए जहाँ आज सौन्दर्य्य की अनुभूति होती है वहाँ कल जी उचट जाता है। ऐसा होना न चाहिए—'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः।' कवियों ने इसकी शिकायत की है। इस शिकायत को दूर करने का एक-मात्र उपाय योगाभ्यास हो सकता है। ज्यों-ज्यों चित्त की वृत्ति शिथिल होगी त्यों-त्यों अपने स्वरूप का, जो भीतर-बाहर विद्यमान है, साक्षात्कार होगा। परन्तु द्वैत-भावना एकदम दूर नहीं हो सकती। इसलिए अपना अन्तर्मुख होना बाह्य जगत् की सूक्ष्मता के रूप में अनुभूत होगा। यह सूक्ष्मता की अनुभूति ही सौन्दर्य्य की अनुभूति है। ज्यों-ज्यों चित्त के बाहर दौड़ने में कमी होगी त्यों-त्यों राग-द्वेष और तज्जनित वासनाओं में तनुता आयेगी और सौन्दर्य्य का अनुभव अबाध होता जायगा। निर्बाधिता के साथ-साथ उसमें सार्वभौमता आती जायगी। ज्यों-ज्यों वृत्ति रुकेगी त्यों-त्यों दिकालादि अन्तःकरण के धर्म्म भी थमेंगे और जगत् का

वास्तविक रूप प्रकट होने लगेगा। अन्त में अविद्या के क्षीण होने से भेदबुद्धि पतली पड़ेगी और एक, अद्वय, अखण्ड चित्सत्ता अपनी लीला का संवरण कर अपने आपका साक्षात्कार करेगी। उसका स्वरूप परमानन्द है अतः योगी पर निरन्तर सोम की वर्षा होती है, कबीर के शब्दों में 'रस गगन गुफा में अजर झरै', अतः योगी ही सच्चा सौन्दर्य्यदर्शी है। उसके लिए सर्वदा सर्वत्र सौन्दर्य्य का सागर लहराता रहता है।

कला की सृष्टि

इसी से कला की सृष्टि का भी उद्देश्य प्रकट हो जाता है। जो जगत् के रहस्य में स्वयं गोता नहीं खा चुका है वह कलाकार नहीं हो सकता। सच्चे कलाकार की कृति इसी रहस्य को खोलती है, अद्वैत भावना उत्पन्न करती है। वह थोड़ी देर के लिए मनुष्य को 'मैं तू' के ऊपर उठाकर उसकी वृत्ति को अन्तर्मुख कर देती है। जिस कला में यह उद्देश्य या शक्ति नहीं है वह आडम्बर-मात्र है।

सुन्दरम् का सत्यम् से सम्बन्ध

जीवन की सरसता सौन्दर्य्यानुभूति पर निर्भर करती है। कला-विहीन मनुष्य पशुतुल्य माना जाता है। इस बात पर जोर दिया जाता है कि बचपन से ही व्यक्ति को सुन्दर वातावरण में शिक्षा देनी चाहिए और उसकी कोमल बुद्धि को असुन्दर संस्कारों से बचाना चाहिए। परन्तु सौन्दर्य्य क्या है? उसकी अनुभूति किस दशा में होती है? यह विचारणीय प्रश्न हैं। यह भी विचारणीय प्रश्न है कि सौन्दर्य्यानुभूति का उद्देश्य क्या है, केवल मनोरञ्जन,

थोड़ी देर के लिए शान्ति और रसास्वाद या जगत् के सच्चे स्वरूप का दर्शन और आत्मसाक्षात्कार ? इस सम्बन्ध में हम जिस सिद्धान्त को स्वीकार करेंगे उसी के अनुसार हमारा शिक्षा-योजन होगा और वैसा ही वातावरण उत्पन्न करने की हम चेष्टा करेंगे। पर हम देखते हैं कि यह प्रश्न भी हमको वहीं ले जाते हैं जहाँ हम प्रथम और द्वितीय खण्ड के अन्त में पहुँचे थे। तीनों खण्डों का विषय एक ही प्रतीत होता है, यद्यपि उसके पास तक पहुँचने के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। मार्ग भी स्यात् उतने भिन्न नहीं हैं जितना कि पहले प्रतीत होता है। कला मधुर मानी जाती है और दर्शन कठोर कहा जाता है परन्तु ऐसा समझ में आता है कि कला भी दर्शन की ही नींव पर खड़ी है।

———

उपसंहार

इस पुस्तक का उद्देश्य यह दिखलाना था कि दर्शन मनोरञ्जन की सामग्री नहीं है प्रत्युत उसका हमारे जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमको इस विशाल विश्व को जानने की, इसके रहस्य को समझने की, उत्कण्ठा होती है। हमारे सामने प्रकृति की खुली पुस्तक है जिसका एक-एक अध्याय रोचक और रोमाञ्चकारी है। जगत् के पृथक् अंशों पर पृथक् विज्ञान प्रकाश डालते हैं परन्तु जगत् अलग-अलग टुकड़ों में विभक्त नहीं है। वह तो एक, अच्छेद्य, पूर्ण है। विज्ञानों के निष्कर्षभूत सिद्धान्तों में कहीं कुछ कमी है, ऐसा भान होता है। वह कमी समन्वय से दूर हो सकती है और समन्वय दर्शन का विषय है। दर्शन ही इन विज्ञानशास्त्रों, इनके विषयों और इनके सिद्धान्तों का परस्पर सम्बन्ध दिखला सकता है और जगत् का वह सच्चा स्वरूप, जगत् का वह मूलभूत सत्य, दिखला सकता है जिसका आभास हमको सभी शास्त्रों में थोड़ा-बहुत मिलता है। बिना इस सत्य का स्वरूप निश्चित किये हमारे सारे प्रयत्न निरर्थक हैं। उन्नति क्या है, सभ्यता किसे कहते हैं, जगत् में आचरण कैसा होना चाहिए, सत्कर्म क्या है, अधर्म्म क्या है, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक संघटन कैसा होना चाहिए, दण्डविधान और शिक्षा का आयोजन कैसा होना चाहिए, यह सब बातें इसी पर निर्भर करती हैं कि सत्य क्या है, द्रष्टा कौन है, द्रष्टा का परम पुरुषार्थ क्या है। कला

भी स्वतन्त्र नहीं है। उसकी अनुभूति और सृष्टि का भी सम्बन्ध इन प्रश्नों के उत्तर से है।

इससे स्पष्ट है कि जीवन का दर्शन से सम्बन्ध है। जो अपने जीवन को सफल बनाना चाहता है, उसका पूरा-पूरा उपयोग करना चाहता है, उसको दर्शन का अध्ययन करना चाहिए। इस पुस्तक का उद्देश्य जिज्ञासा उत्पन्न करना था। ज्ञान की प्राप्ति अन्यत्र होगी। कौन-सा दार्शनिक सिद्धान्त सार्वभौम और समीचीन है यह जिज्ञासु अपने श्रवण और मनन से स्वयं स्थिर करेगा। उसे तब तक सन्तोष न करना चाहिए जब तक उस मूल सत्य का साक्षात्कार न हो जाय। मुझको स्वयं किस विचारधारा में स्वारस्य है उसकी ओर इसमें कहीं-कहीं संकेत हो ही गया है।

दर्शन का विषय कठिन हो सकता है परन्तु आँख बन्द कर लेने से जीवन की जटिल समस्याओं से पीछा नहीं छूट सकता।

॥ इति शम् ॥
